स्वर्ण जयन्ती प्रकाशन 2013

BIHAR YOGA

योगदृष्टि सत्संग शृंखला

अध्यात्म के अध्याय

स्वामी निरंजनानन्द सरस्वती



योग पब्लिकेशन्स ट्रस्ट, मुंगेर, बिहार, भारत

अध्यात्म के अध्याय



WORLD YOGA CONVENTION 2013
GANGA DARSHAN, MUNGER, BIHAR, INDIA
23rd–27th October 2013

अध्यात्म के अध्याय

स्वामी निरंजनानन्द सरस्वती

बैद्यनाथेश्वर शंकरबाग, मुंगेर में 5 से 8 मार्च 2013 में आयोजित
योगदृष्टि सत्संग श्रृंखला के दौरान दिये गये प्रवचनों का संकलन



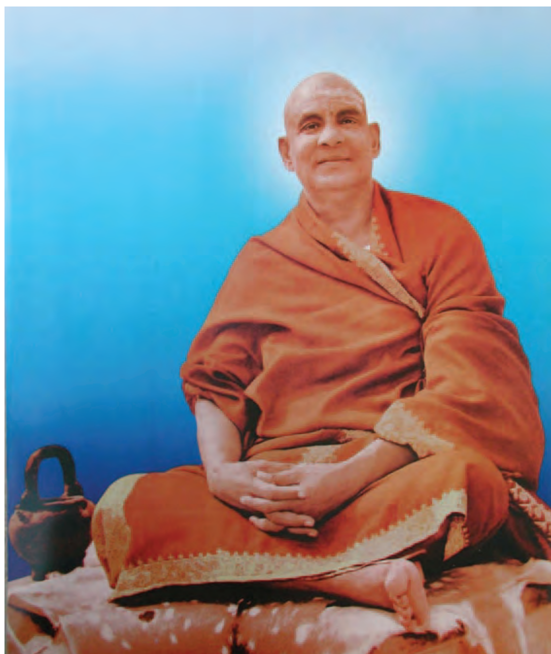
योग पब्लिकेशन्स ट्रस्ट, मुंगेर, बिहार, भारत

योग पब्लिकेशन्स ट्रस्ट द्वारा प्रथम प्रकाशन 2013

ISBN: 978-93-81620-43-4

प्रकाशक एवं वितरक—योग पब्लिकेशन्स ट्रस्ट,
मुंगेर, बिहार, भारत
मुद्रक—एजीएन ऑफसेट प्रिंटर्स,
ग्रेटर नोएडा

वेबसाइट : www.biharyoga.net
www.rikhiapeeth.net



सविनय समर्पण

स्वामी शिवानन्द सरस्वती के चरणों में
जिन्होंने स्वामी सत्यानन्द सरस्वती को योग के रहस्यों की शिक्षा दी



नमो नारायण

योगविद्या भारतवर्ष की सबसे प्राचीन संस्कृति और जीवन-पद्धति है तथा इसी विद्या के बल पर भारतवासी प्राचीनकाल में सुखी, समृद्ध और स्वस्थ जीवन बिताते थे। जब से भारत में योग विद्या का ह्रास हुआ, तभी से भारतवासी गरीब, दुःखी और अस्वस्थ हैं। पूजा-पाठ, धर्म-कर्म से शान्ति मिलती है और योगाभ्यास से धन-धान्य, समृद्धि और स्वास्थ्य। भारत में सुख, समृद्धि, शक्ति और स्वास्थ्य के लिए हर व्यक्ति को योगाभ्यास करना चाहिए।

स्वामी सत्यानन्द सरस्वती
रिखियापीठ, 2005

विषय सूची

अध्यात्म क्या है?

प्रात:कालीन सत्र, 5 मार्च 2013

बैद्यनाथेश्वर शंकरबाग में इस वर्ष शिवरात्रि के अवसर पर पुन: यह वार्षिकोत्सव आयोजित किया गया है। सत्संग, हवन, भजन और कीर्तन का यह कार्यक्रम मनोरंजन के लिये नहीं, बल्कि भगवान शिव की आराधना और उनकी शिक्षाओं के प्रचार के लिये है। भगवान शिव ही हमारी परम्परा के आदिगुरु हैं, उन्हीं से समस्त विद्याओं, शास्त्रों और तंत्रों की उत्पत्ति हुई है। यह पावन स्थान उन्हीं का है, जहाँ पर प्रतिवर्ष उनकी शिक्षाओं पर चिन्तन और उनकी शिक्षाओं को आत्मसात् करने का प्रयास करते हैं।

शिवालय का इतिहास



मुंगेर में इस प्रकार का स्थान होना सचमुच ईश्वर और भाग्य की देन है। मुंगेर के लोग जानते हैं कि इस शिवालय की स्थापना करीब एक सौ आठ साल पहले एक संत के कहने पर हुई थी। यहाँ गुमटी के पास रेलवे क्रॉसिंग के नजदीक उड़िया बाबा रहते थे। उन्होंने ही गोयनका परिवार को आदेश दिया था कि तुम यहाँ पर एक शिवालय की स्थापना करो। उस समय यह श्मशान भूमि

थी। ब्रिटिश काल में लोगों को यहीं पर मौत के घाट उतारा जाता था। एक संत के आदेश से श्मशान भूमि में शिव की स्थापना होना बहुत शुभ है और इस कारण यह स्थान बहुत उत्तम है। इसका भाग्य भी ऐसा है कि आध्यात्मिक चर्चा के अतिरिक्त यहाँ अन्य किसी प्रकार का सामाजिक या धार्मिक कार्यक्रम नहीं होता।

एक संत के वरदान से शिवलिंग की जो स्थापना यहाँ हुई, उसके माध्यम से भगवान का आशीर्वाद निरंतर इस क्षेत्र को प्राप्त हो रहा है। ऐसे सुंदर, पावन प्रांगण में शिव शिक्षा का चिंतन करने से अद्भुत संयोग और क्या हो सकता है!

अध्यात्म की परिभाषा

हमारे शास्त्रों में कहा गया है कि जब पूर्ण कुम्भ होता है, तब उस समय सभी लोकों से देवी-देवता और सिद्ध-महात्मा अपने सूक्ष्म शरीर में वहाँ आते हैं। उस समय वह नगरी मात्र कुम्भ-नगरी नहीं, बल्कि देव-नगरी, मोक्ष-नगरी, अमृत-नगरी, अनुकम्पा-नगरी, संत-नगरी कहलाती है।

इस वर्ष माघी पूर्णिमा के अवसर पर हम कुछ संन्यासियों सहित कुम्भ मेले की तीर्थयात्रा पर गए थे। हमारे साथ स्वामी सूर्यप्रकाश भी गए थे। वे पहली बार ऐसे क्षेत्र में पहुँचे थे, जहाँ पर इतने सारे साधुओं, संन्यासियों, संतों और भक्तों को एक साथ देखने को मौका मिला। वहाँ पर उन्होंने हमसे एक प्रश्न किया, 'स्वामीजी, वास्तव में अध्यात्म क्या है? आध्यात्मिक किसे कहते हैं? यहाँ तीन करोड़ लोगों की भीड़ है। सब कुम्भ मेले में स्नान करने आये हैं। कुछ गाँव के गरीब लोग हैं, जो सिर पर गठरी उठाकर अपने परिवार के साथ



चले आ रहे हैं। वे किस आस्था से प्रेरित हैं? यहाँ पर कुछ सम्पन्न और धनवान लोग भी हैं, जो ठाठ से आते हैं, नहाते हैं और ठाठ से जाते हैं। ये लोग किस आस्था से यहाँ आये हैं? भारत के दिग्गज साधु और महामण्डलेश्वर बैठे हुए सत्संग-प्रवचन दे रहे हैं। ये यहाँ पर क्यों आये हैं? इनके लिए आध्यात्मिकता क्या है? यहाँ पर नागा बाबा भी बैठे हैं, जिन्होंने सब कुछ छोड़ दिया है। निर्वस्त्र हैं, चिलम पीते हैं। वे कौन-सी साधना करते हैं, कैसा जीवन व्यतीत करते हैं? उनके लिए अध्यात्म क्या है?'

कुम्भ मेले में स्वामी सूर्यप्रकाश ने हमसे जब इस प्रकार के प्रश्न किये तो हमने कहा, ठीक है, तुम्हारे इन प्रश्नों का उत्तर हम शिवालय में होने वाले सत्संग में देंगे। तो इस सत्संग शृंखला का यही विषय है। आध्यात्मिक किसे कहते हैं, अध्यात्म क्या चीज है? हमारे जीवन के साथ इसका क्या सम्बन्ध है?

धर्म के बारे में तो हम लोगों ने बहुत सुना है। हमारे पण्डितों, पूर्वजों, बुजुर्गों ने बहुत समझाया है। हम कभी आरती दिखाते हैं, तो कभी हवन-व्रत-अनुष्ठान करते हैं। यह सब तो उपासना और कर्मकाण्ड में आता है। लेकिन वास्तव में अध्यात्म किसे कहते हैं? जब हमसे यह प्रश्न किया गया, तब हमने इस पर चिंतन शुरू किया। देखने में तो अध्यात्म एक छोटा-सा शब्द है, लेकिन इस शब्द में कितना रहस्य छिपा है, कितने बिन्दुओं का मिश्रण है, कितने प्रकार की साधनाओं का समन्वय है, कितनी प्रकार की मानसिकताओं का उदय है, कितनी प्रकार की भावनाओं का दिशान्तरण है और कितने प्रकार के व्यवहारों-आचरणों का अनुसरण है, अगर व्यक्ति इस पर सोचे, तो अध्यात्म का महत्त्व, इसकी उपयोगिता समझ में आ जाएगी।

संसारी और संन्यासी

संसार में दो प्रकार के लोग देखने में आते हैं, एक गृहस्थ और दूसरा त्यागी। कुम्भ मेले में इन्हीं दो आश्रमों का समागम था। गृहस्थ आश्रम से जुड़े हुए समाज के लिए भावना में श्रद्धा का होना ही पर्याप्त था। श्रद्धा इस मान्यता में कि यह कुम्भ का महापर्व है, जिसमें संगम-स्नान कर लेने से सभी पाप धुल जायेंगे, भगवान की कृपा प्राप्त होगी, संतों का आशीर्वाद मिलेगा और जीवन से दुःख, अभाव, क्लेश एवं दरिद्रता दूर हो जायेगी। इसी भावना से प्रेरित होकर गृहस्थ आश्रम के लोग कुम्भ मेले में करोड़ों की संख्या में भाग ले रहे थे। गरीब से गरीब, बुजुर्ग से बुजुर्ग अपने सिर पर गठरी उठाए, काँपते पैरों से चल रहे हैं,



ठण्ढ में ठिठुर रहे हैं। कौन-सी ऐसी शक्ति है जो उन्हें संगम में खींचकर ला रही है। वह श्रद्धा की ही शक्ति है। दुनिया में श्रद्धा से बढ़कर कोई शक्ति नहीं। अगर मनुष्य के मन में श्रद्धा है तो वह दुर्गम पहाड़ को भी पार कर जायेगा, पर मनुष्य के मन में श्रद्धा नहीं, तो वह दस कदम चलते ही हारकर बैठ जायेगा।

कुम्भ मेले में जो दूसरा समाज दिखलाई दिया, वह त्यागियों, संन्यासियों, महामण्डलेश्वरों और बाबा लोगों का था, जो एक ओर तो एकदम सरल तरीके से रहते हैं और दूसरी ओर एकदम राजसी ठाठ-बाठ के साथ चलते हैं। इनमें ज्ञान भी है, साधना-तपस्या भी है। ये लोग यहाँ पर क्यों आए? मेले में एक-दूसरे से मिलने के लिए या स्वयं को पवित्र बनाने के लिए या संगम में कुछ अलौकिक अनुकम्पा को प्राप्त करने के लिए? हमें लगा कि गृहस्थ हो या त्यागी, सभी अपने आराध्य की अनुकम्पा प्राप्त करने आये हैं, जिससे आंतरिक शक्ति, जीवन में संघर्ष की क्षमता और हमेशा मुस्कुराते रहने की शिक्षा प्राप्त होती है।

जब हमने नागा साधुओं को देखा और उनके साथ कुछ देर बैठे भी, तब अनुभव हुआ कि इन लोगों ने समय नहीं गँवाया है, बल्कि एक मानसिकता को पार किया है। घोर तपस्या द्वारा मन को अपने इष्ट और गुरु में लगाया है। मन जितना अधिक अपने आराध्य और गुरु में केन्द्रित होता है, उतना ही शुद्ध होता है। मानसिक शुद्धि और तपस्या के प्रताप से उन्हें अन्तर्ज्ञान की प्राप्ति होती है। निस्संदेह कुछ चिलम पीने वाले होते हैं, कुछ गंजेड़ी होते हैं, कुछ अवसरवादी होते हैं, लेकिन कुछ साधक भी होते हैं। और जो सच्चे साधक होते हैं, वे अपनी मन की चंचलता, मन की वासनाओं को शान्त करके अपनी अन्तर्प्रतिभा को जाग्रत करते हैं। उनके लिए अध्यात्म का वास्तविक अर्थ क्या है?

आचार्यों-महामण्डलेश्वरों को देखते हैं। क्या राजसी ठाठ-बाठ है! ज्ञान का अद्भुत भण्डार हैं, चलते-फिरते ज्ञानकोष हैं। एक वाक्य किसी पुराण से, दूसरा वाक्य ऋग्वेद से, तीसरा वाक्य अथर्ववेद से, चौथा वाक्य किसी उपनिषद् से, तो पाँचवा वाक्य किसी स्मृति से उद्धृत करते हैं। उनकी प्राप्ति ज्ञान के आधार पर हुई है, जिससे एक नई समझ, नए चिन्तन, नए आचरण का विकास हुआ है। ज्ञान के आधार पर जितना कर पाए, उतनी उनकी उपलब्धि है। चाहे उसे वे अपने तक सीमित रखें या उसका प्रचार करें, यह उनके ऊपर निर्भर करता है। लेकिन वे ज्ञान के बल पर जीवन के प्रति एक नई सजगता विकसित कर पाए हैं, न्याय-संगत और धर्म-संगत मार्ग को जान पाए हैं, जिसका अनुसरण करने के लिए वे न केवल स्वयं प्रयास करते हैं, दूसरों को भी प्रेरित करते हैं।

गृहस्थ, चाहे वे गरीब हों या धनी, दोनों निश्चित रूप से किसी कामना या इच्छा को लेकर आते हैं। लेकिन उस कामना और इच्छा के पीछे जो मोटर है, वह है श्रद्धा की। अगर श्रद्धा की मोटर न रहे, तो इच्छा-कामना चाहे कुछ भी हो, हमारा ध्यान उधर नहीं जाएगा। संसार में अगर जीवन्त श्रद्धा को देखना हो; अगर श्रद्धा, विश्वास और निष्ठा को चलते-फिरते देखना हो, तो इसके लिए कुम्भ से बढ़कर कोई स्थान नहीं। तीन करोड़ लोग आखिर किस श्रद्धा-विश्वास, किस आस्था-निष्ठा, किस भक्ति के साथ वहाँ पर जा रहे हैं? क्या उनकी यह श्रद्धा, आस्था और भक्ति आधारहीन है? बिल्कुल नहीं! यही भक्ति, यही श्रद्धा वह शक्ति है जो मनुष्य को दु:खों के समुद्र से पार लगाकर, उसे ईश्वर-कृपा और शान्ति के साम्राज्य में स्थापित करती है। यही अध्यात्म-विषय का सार और आधार है, जिसकी चर्चा हम आने वाले दिनों में करेंगे।



सत्य क्या है?

अपराहनकालीन सत्र, 5 मार्च 2013

आदिकाल में एक ऋषि दंपति थे, महर्षि अत्रि और अनसूया। दोनों महान् तपस्वी, त्यागी और सिद्ध थे। लेकिन उन्हें कोई संतान नहीं थी। ऋषि परम्परा के अंतर्गत जो आध्यात्मिक जीवन बिताता है, उसे गृहस्थ आश्रम के कर्त्तव्यों का भी पालन करना पड़ता है। एक दिन जब महर्षि अत्रि के मन में विचार उत्पन्न हो रहा था कि हमारी कोई संतान नहीं है, तब उस दिन तपस्या के दौरान उन्हें एक अनुभूति हुई। ध्यान की अवस्था में वे अपने सामने ब्रह्मा, विष्णु और महेश को देखते हैं। तीनों देवता हाथ उठाकर आशीर्वाद देते हैं और उनके हाथ से निकला तेज महर्षि अत्रि के शरीर में प्रवेश कर जाता है। महर्षि अत्रि को आभास हो जाता है कि मुझे त्रिदेवों का आशीर्वाद प्राप्त हुआ है।

उसी रात माता अनसूया स्वप्न देखती हैं। वह मात्र स्वप्न नहीं बल्कि एक जीवंत अनुभूति थी। स्वप्न में देखती हैं कि तीन देवता उनके दरवाजे के सामने आकर खड़े हैं और दरवाजा खटखटा रहे हैं। माता अनसूया दरवाजा खोलती हैं। तीनों देवता कहते हैं, '*भिक्षां देहि!* भोजन दो।'

हमारे यहाँ अनेक प्रकार के भोजन होते हैं। अगर कोई याचक आपके घर पहुँच जाए और कहे, *'भिक्षां देहि!'* तो आप उसको अंदर बुलाते हो, बैठाते हो और जो घर में बना हुआ भोजन है, उसके सामने रखते हो। आपने जो अपने लिए बनाया, वही उसे प्रदान किया। इसे सामान्य भोजन कहते हैं।

भोजन का दूसरा रूप इच्छा भोजन है। अतिथि आकर कहता है, *'भिक्षां देहि!'* आप उसे घर में बुलाकर पूछते हो कि भगवन्, आप क्या खाना चाहोगे? अतिथि जिस भी भोजन की इच्छा व्यक्त करता है, जब आप उसे बनाकर



देते हैं, तब उसे इच्छा भोजन कहते हैं। मतलब अतिथि की इच्छा के अनुसार आपने भोजन दिया, अपनी इच्छानुसार नहीं।

तीसरे प्रकार का भोजन प्रसाद भोज है। आप घर में भोजन बनाते हो और पहले अपने आराध्य को, इष्ट को, भगवान को अर्पित करते हो, उनका भोग लगाते हो। फिर उस अन्न को प्रसाद रूप में ग्रहण करते हो, परिवार में बाँटकर खाते हो और जो अतिथि आता है, उसे भी वही प्रसाद देते हो। यह हुआ प्रसाद भोज।

जब ये तीनों देवता माता अनसूया के दरवाजे को खटखटाकर *'भिक्षां देहि'* कहते हैं, तो माता अनसूया पूछती हैं कि किस प्रकार का भोजन चाहिए। जो बना है वह दूँ, या आपकी जो इच्छा है वह तैयार करके दूँ, या जो भगवान को अर्पित किया गया है उसे आपके सामने प्रस्तुत करूँ। देवता कहते हैं कि हमें इच्छा भोज चाहिए। माता अनसूया कहती हैं कि किस प्रकार का इच्छा भोज चाहिए। वे कहते हैं, 'आप स्वयं माता के रूप में और हमें बालक के रूप में भोजन करवाइये।'

माता अनसूया आँख बंद करके सोचती हैं, 'ये देवता मेरी शुद्धता, पवित्रता और धर्मपरायणता की परीक्षा ले रहे हैं। इन्होंने इच्छा प्रकट की है कि हमें बालक के समान देखकर, अपने को माता समान जानकर भोजन करवाइये। मैं इनकी इच्छा पूरी करती हूँ।' माता अनसूया देखती हैं कि तीनों देवता बच्चे बन

रहे हैं, और वे उन्हें अपनी गोद में उठाकर दुग्धपान करवा रही हैं। इस प्रकार उनको इच्छा भोज दिया गया। इसके बाद माता अनसूया की यह स्वप्नानुभूति समाप्त होती है। वे उठती हैं और उन्हें मालूम पड़ता है कि मुझे संतान हेतु देवताओं का आशीर्वाद प्राप्त हुआ है।

सत्य क्या है?

कालांतर में अत्रि और अनुसूया के तीन पुत्र होते हैं। पहले चन्द्रमा, जो ब्रह्मा के अंश से उत्पन्न हुए, दूसरे ऋषि दुर्वासा, जो शिव के अंश से उत्पन्न हुए, और तीसरे दत्त, जो विष्णु के तेज से उत्पन्न हुए। चन्द्रमा और दुर्वासा छोटी अवस्था में ही आश्रम छोड़कर अपनी तपस्या हेतु निकल जाते हैं। केवल दत्त अपने माता-पिता के साथ आश्रम में अठारह वर्ष तक निवास करते हैं। अठारह वर्ष की अवस्था में वे अपने माता-पिता के पास जाते हैं और हाथ जोड़कर कहते हैं कि मुझे अनुमति दीजिये, मैं तपस्या के मार्ग पर चलना चाहता हूँ।

माता को यह अच्छा नहीं लगा। पर वे एक ऋषि-पत्नी थीं, विदुषी महिला थीं, ऐसे दिव्य बालकों की जननी थीं। वे कहती हैं कि मैं तुम्हें आज्ञा तभी दूँगी जब तुम मेरे एक प्रश्न का उत्तर दोगे। दत्त कहते हैं, 'माता, पूछिये! कौन-सा प्रश्न है?' माता अनसूया पूछती हैं, 'पुत्र, सत्य क्या है?'

तब दत्तात्रेय अपनी माता को शिक्षा देते हुए कहते हैं कि सत्य की खोज ही मनुष्य जीवन का परम लक्ष्य और उद्देश्य है। जिसे तुम सत्य मानती हो, वह सत्य नहीं है। जिसे कोई नहीं देख सका आज तक, वही सत्य है। सत्य ही शिव है और शिव ही सुंदर है – *सत्यम्-शिवम्-सुन्दरम्*। जो सत्य, शिव और सुन्दर है, वही परम सत्ता है, परम शक्ति है। वह हमलोगों से दूर है, अज्ञात है। उसे हम जान नहीं पाते हैं। लेकिन जो सत्य को जान सकता है, जो शिव को जान सकता है, जो सौन्दर्य को जान सकता है, वह इस सृष्टि में व्याप्त परम तत्त्व को भली-भाँति समझ लेता है, उससे एकाकार हो जाता है और उसे इस सृष्टि से मुक्ति मिल जाती है।

इस सृष्टि में हम सब उसी परम तत्त्व के कारण अपनी भूमिका निभा रहे हैं। हमारे भीतर वही परम तत्त्व है, जो सत्य है, सनातन, शाश्वत और अपरिवर्तनशील है। वही परम-तत्त्व शिव है, जिससे मंगलता का अनुभव होता है, सुख-संतोष की प्राप्ति होती है। वही परम-तत्त्व सौन्दर्य है, जिसमें शांति, तृप्ति और पूर्णता है।



हमें इस शरीर में परम तत्त्व का अनुभव नहीं हो सकता, क्योंकि शरीर का बंधन है, प्रकृति का बंधन है, पदार्थ का बंधन है, माया का बंधन है। इसी माया-मोह के कारण हम संसार को सत्य मानते हैं और उस परम तत्त्व को नहीं जान पाते। लेकिन दोनों एक-दूसरे में इतने ओत-प्रोत हैं कि इनको अलग करना संभव नहीं। जब तुम अपने ध्यान को संसार के विषयों से हटाकर परमात्मा से जोड़ देते हो, तब तुमको अन्तर मालूम पड़ेगा कि सत्य, असत्य, वास्तविकता और भ्रम क्या है।

यह संसार परम तत्त्व नहीं है, क्योंकि परिवर्तन इसका स्वभाव है। यह नश्वर वस्तु है। इसलिए संसार को और संसार की अनुभूतियों को कभी सत्य मत मानो। जो इसके परे है, उसे जानने और पहचानने का प्रयास करो, क्योंकि वही सत्य है, वही शिव है, वही सुन्दर है और वही परम तत्त्व है। ऐसा कहकर दत्तात्रेय ने अपनी माँ को एक साधना दी।

सुमिरन की साधना

यह साधना, जो सभी माताओं के लिए बहुत सुलभ है, एकाग्रता साधना या स्मरण साधना के नाम से जानी जाती है। दत्तात्रेय ने अपनी माँ से कहा कि अपने मन को अपने आराध्य में केन्द्रित कर दो, और फिर उसे वहाँ से मत हटाओ। वहीं पर टिकाकर रखो। किसी माता की संतान उससे दूर चली जाए, तब भी संतान की स्मृति हर क्षण माँ के मन में बनी रहती है। माँ कुछ भी काम करे, चाहे वह घर की सफाई करे, झाड़ू लगाये, कपड़े धोये, खाना बनाये या महिला मण्डल के साथ बैठकर रामायण का पाठ करे, जो भी काम माता करती है, हर काम को करते हुए भी वह अपनी संतान की स्मृति को मन में संजोकर रखती है।



इसी को एकाग्रता-साधना या स्मरण-साधना कहते हैं। जिस प्रकार से एक माँ अपनी संतान को याद करती है, उसी प्रकार से एक साधक हमेशा अपने आराध्य को याद करे तो उसका चंचल मन शांत और एकाग्र हो जाता है। दत्तात्रेय ने अपनी माँ से केवल इतनी ही बात कही कि आपको कुछ नहीं करना है, केवल मन को अपने आराध्य से जोड़कर रखना है। अपने सब काम-काज करते रहो, कुछ बदलने की आवश्यकता नहीं, केवल अपना दृष्टिकोण बदल दो।

तब माता अनसूया कहती हैं कि आराध्य का स्मरण कैसे होगा, क्योंकि मेरी तो तुम्हारे प्रति बहुत आसक्ति है। दत्तात्रेय कहते हैं, 'कोई बात नहीं, आसक्ति रखो। लेकिन यह आसक्ति संसार और सांसारिकता से नहीं, परमार्थ से रहे। आसक्ति को हटाने का प्रयास मत करो, बल्कि उसे परमात्मा से जोड़ दो। अगर मोह है, तो मोह को रहने दो, लेकिन संसार के साथ मोहित मत रहो। अपने इष्ट से, अपने आराध्य से मोहित हो जाओ। मन से सांसारिकता के भाव को हटाकर परमात्म-भाव को स्थान दे दो। इतना ही करना है। अगर इतना कर पाओगे तो तुम्हें सत्यम्-शिवम्-सुन्दरम् का अनुभव हो जाएगा।' ऐसा कहकर दत्तात्रेय तपस्या करने आश्रम से निकल पड़े।

मनुष्य जीवन की पूर्णाहुति

'अध्यात्म किसे कहते हैं?' सबेरे का जो यह प्रश्न था, उसकी नींव दत्तात्रेय की इन शिक्षाओं में पड़ती है। ऋषि दत्तात्रेय ने यह चिंतन दिया कि परमात्मा सत्य है, शिव है, सुन्दर है, वही परम-तत्त्व है, और उसको प्राप्त करना ही अध्यात्म कहलाता है। लेकिन जब हम इस जीवन में आते हैं, तब हमारा मन, भावना और शरीर तामसिक आवरण पहन लेते हैं और इस आवरण के कारण

हमें जीवन का मार्ग स्पष्ट नहीं दिखलाई देता। केवल बाधाएँ दिखलाई देती हैं। इन बाधाओं को दूर करना ही हमलोगों के जीवन का परम-कर्त्तव्य हो जाता है। और यह परम-कर्त्तव्य ही साधना कहलाती है।

ये बाधाएँ कहाँ से आती हैं? यह जानने के लिए सृष्टि और जीवन के बारे में कुछ बातें जानना जरूरी है। ईश्वर की यह सृष्टि अवर्णनीय, अकल्पनीय, असीम, अनंत और अद्भुत है। कहा गया है कि पूरी सृष्टि में चौरासी लाख प्रकार के जीव-जन्तु हैं। इतने प्रकार के प्राणियों में केवल एक ही प्राणी का मन है, और वह मनुष्य कहलाता है। हर प्राणी का एक कर्त्तव्य, एक धर्म होता है। मनुष्य प्राणी का भी एक लक्ष्य, एक प्रयोजन, एक कर्त्तव्य और एक धर्म है। वह धर्म क्या है? मनुष्य रूप में पदार्थ, मन और भावनाओं पर विजय प्राप्त करना।

जब हमलोगों का जन्म हुआ, तब हमें यह शरीर मिला। हमने धीरे-धीरे ही इस शरीर का उपयोग करना सीखा। पहले तो चलना, खाना, पकड़ना या बोलना भी नहीं आता था। लेकिन जैसे-जैसे उम्र बीतती है, वैसे-वैसे हम शरीर को जानने लगते हैं, हमारा शरीर पर नियंत्रण होने लगता है और हम शरीर का उपयोग करने लगते हैं।

उसी प्रकार से मन के साथ भी है। जब हमने जन्म लिया था, तब मन का उपयोग कैसे करें, बुद्धि किसे कहते हैं, भावना क्या होती है, यह सब नहीं जानते थे। जैसे-जैसे बड़े होते हैं, अपने आपको शिक्षित और संस्कारित करते हैं, अपने आपको कर्म और धर्म से जोड़ते हैं, वैसे-वैसे मन क्या है, उसकी विशेषताएँ और कमजोरियाँ क्या हैं, मन का उपयोग कैसे होता है, मन की वृत्तियाँ क्या हैं, यह सब जानने को मिलता है। वैसे ही भावनाओं के साथ भी है। पदार्थ, मन और भावनात्मक ऊर्जा पर विजय प्राप्त करना, यही मनुष्य जीवन की पूर्णाहुति है।

भोग और योग

जीवन में एक और परिस्थिति देखने में आती है। शरीर में प्रवेश करने वाली आत्मा शुद्ध है, लेकिन शरीर आत्मा की तरह शुद्ध नहीं। क्यों? इसलिए कि आत्मा ऊर्जा है, शक्ति है। मन भी ऊर्जा है, पर शरीर क्या है? पदार्थ। यह शरीर पदार्थमय है, पंचतत्त्वों से बना है। ऊर्जास्वरूप आत्मा एवं मन इसी पदार्थमय शरीर के भीतर बन्द कर दिए जाते हैं। इसलिए जो गुण या स्वभाव प्रकट होता है, वह इस शरीर का होता है।

पदार्थमय शरीर का गुण-स्वभाव तामसिक है। पदार्थ का सम्बन्ध भोग के साथ जबकि ऊर्जा का सम्बन्ध योग के साथ होता है। इसलिए शरीर की इच्छा भोग में जाने की होती है। शरीर को सब कुछ सुखद और आरामदायक चाहिए, उसे कोई कष्ट या दर्द नहीं होना चाहिए। लेकिन मन को भोग नहीं चाहिए। भोग से तो मन चंचल होता है। मन को क्या चाहिए? शान्ति। शरीर को भोग-आराम, और मन को शान्ति चाहिए। आपने अपने जीवन में इसका अनुभव भी किया होगा कि सब प्रकार के भोग-ऐश्वर्य उपलब्ध होने पर भी मन अशान्त रहता है। धन-सम्पत्ति-समृद्धि में भी सुख-शान्ति नहीं मिलती। अशान्ति ही ज्यादा रहती है। इसका कारण यही है कि पदार्थ का स्वभाव भोग और सुख का है, जबकि मन का गुण-स्वभाव शान्ति और तृप्ति का है। जब मन तृप्त होगा, तभी शान्त होगा। अतृप्त मन शान्त नहीं हो सकता।

शरीर का जो भोग और आराम पसन्द स्वभाव है, इसे ही तमोगुण कहते हैं। जब हम भोग की ओर आकृष्ट होते हैं, तब यह तमोगुण की अभिव्यक्ति है, और जब शान्ति की ओर अग्रसर होते हैं तब यह सत्त्वगुण है। भोग से आकृष्ट होने पर हमारा मन और व्यवहार विषयों एवं इन्द्रियों द्वारा नियंत्रित होता है। जब हम शान्ति की ओर बढ़ते हैं, तब विषयों से हमारा सम्बन्ध-विच्छेद होता है। जैसे कछुआ अपने अंगों को अपने कवच में समेटता है, वैसे ही हम अपने आपको अपने में समेटते हैं और शान्ति का अनुभव करते हैं।

इस प्रकार, जीवन में भोग और योग, ये दो विपरीत ध्रुव हैं। भोग तमोगुण है, जबकि योग सत्त्वगुण। और जो यात्रा आपको तमोगुण से सत्त्वगुण की ओर ले जाए, उसे अध्यात्म कहते हैं। इसी यात्रा को साधना, आराधना या तपस्या जैसे नाम भी दिये जाते हैं।

अध्यात्म-मार्ग की बाधाएँ

हमारे परमगुरु स्वामी शिवानन्द जी कहते थे कि जब मनुष्य का जन्म इस संसार में होता है, तब तमोगुण के कारण उसे अपनी मोक्ष प्रक्रिया में, अपने जीवन के उत्थान में कुछ बाधाओं का सामना करना पड़ता है। अगर वह इन बाधाओं के प्रति सजग हो जाए और इनसे दूर रहने का प्रयास करे, तब सुख और शान्ति दोनों सुलभ हो जाते हैं।

पहली बाधा है द्वैत भाव, 'मैं' और 'तुम' का भाव। यह सबसे बड़ी बाधा है, क्योंकि यही भावना ऊँच और नीच का, अहंकार और विनम्रता का, मैं और

तुम का, अच्छे और बुरे का बोध दिलाती है। इस द्वैत के प्रभाव में आकर हम जीवन की परिस्थितियों को सहर्ष स्वीकार नहीं कर पाते, दूसरों से द्वेष और घृणा करने लगते हैं। गीता के बारहवें अध्याय में श्रीकृष्ण ने जिन सद्‌गुणों की चर्चा की है, उनमें पहला है *अद्वेष्टा सर्वभूतानां,* किसी से द्वेष नहीं रखना। अगर तुम दूसरों से द्वेष करते हो तो जान लो कि अभी द्वैत भाव से ऊपर नहीं उठ पाए हो।

विविधता भी एक बाधा है, क्योंकि जहाँ भी विविधता दिखलाई देती है, मन उसी ओर भागता है। मन कभी स्थिर, एकाग्र और शान्त नहीं होता। असफलता के कारण जो हीनता की भावना आती है, वह भी एक बाधा हो जाती है। इसके अलावा हम लोगों में दंभाचार, अस्मिता, अहंकार, राग-द्वेष, अभिनिवेश, कामुकता, अतिसंवेदनशीलता, भावुकता, निष्क्रियता, दुर्बलता और रुग्णता है। ये सब इस जीवन के, शरीर के, मन के तमोगुणी प्रभाव हैं। इन बाधाओं को अपने से दूर करना सीखो। तभी तुम अपने जीवन में दिव्यता का अनुभव कर पाओगे। वह दिव्यता और कुछ नहीं, सत्यम्, शिवम् और सुन्दरम् है।



आध्यात्मिक जीवन में त्याग का महत्त्व

प्रातःकालीन सत्र, 6 मार्च 2013

समाज में हम दो वर्गों को देखते हैं। एक है गृहस्थ है, जो समाज और संसार में संलग्न है, और दूसरा त्यागी है, विरक्त है, जो अपने आपको घर-परिवार से अलग करके एक लक्ष्य, एक सिद्धांत, एक विश्वास को अपनाकर चल रहा है। इन दोनों के जीवन में आध्यात्मिकता किस प्रकार सिद्ध होगी?

संसारी मनुष्य केवल अपने दुःखों से निवृत्ति चाहता है, मोक्ष नहीं चाहता। अगर हम किसी गृहस्थ से पूछें कि क्या तुम मोक्ष चाहते हो, तो वह भले ही हाँ में उत्तर दे, लेकिन यह हमारी बेवकूफी है कि हमने उससे यह प्रश्न पूछा, क्योंकि गृहस्थ का उद्देश्य वह है ही नहीं। उसका उद्देश्य जीवन में सुखपूर्वक, शांतिपूर्वक, तनाव रहित होकर जीना है। उसका लक्ष्य जीवन में सुख-संपन्नता को प्राप्त करना और बिना तकलीफ एवं तनाव के जीना है। अगर संभव हो सका तो समाज के उत्थान के लिए कुछ अच्छा करना भी है। यही एक संसारी की मानसिकता होती है। ऐसे व्यक्ति के जीवन में आध्यात्मिकता किस प्रकार सिद्ध होगी? सत्यम्-शिवम्-सुन्दरम् की प्राप्ति कैसे होगी?

दूसरी ओर जो त्यागी है, विरक्त है, वह अपने आपको संसार से अलग करने का प्रयास करता है। अगर संसारी संसार में आसक्त है, तो विरक्त संसार में अनासक्त-भाव को धारण करने का प्रयास करता है। अगर संसारी मोहग्रस्त है तो विरक्त अपने आपको मोह से अलग करने का प्रयास करता है। अगर संसारी कामनाओं के वशीभूत रहता है, तो त्यागी अपने आपको कामनाओं से दूर रखने का प्रयास करता है। जिस सामान्य मानसिकता को एक

सांसारिक मनुष्य धारण करके जीवन जीता है, उस मानसिकता को एक साधु, त्यागी या विरक्त पुरुष बदल देता है। अपनी मानसिकता को बदलकर, वह अपने जीवन में किस प्रकार से अध्यात्म को प्राप्त करता है?

ऋषि दत्तात्रेय ने सत्यम्, शिवम् और सुन्दरम् के रूप में परमात्मा को जो वर्णन किया है, हर प्राणी की वही खोज है, चाहे वह संसारी हो या संन्यासी। संसारी पदार्थ और भोग में सत्यम्-शिवम्-सुन्दरम् की खोज करता है, जबकि त्यागी ध्यान और योग में। जो भोग में रहकर अध्यात्म को जीता है और जो योग में रहकर जीता है, दोनों में अंतर होता है।

अध्यात्म का अर्थ है अपने आप को पवित्रता से जोड़ना, शुद्ध और निर्मल बनकर रहना। यह पवित्रता, निर्मलता और शुद्धता जीवन के सभी स्तरों को स्पर्श करती है, चाहे वह भौतिक जीवन हो, या सामाजिक, पारिवारिक, व्यावसायिक अथवा आध्यात्मिक जीवन।

गृहस्थ की साधना

अध्यात्म की अवस्था को प्राप्त करने के लिए गृहस्थों के लिए जो व्यवस्था की गई है, पहले उसकी चर्चा करते हैं। एक गृहस्थ अपने जीवनकाल में व्रत, उपासना, मंत्र-जप, तीर्थाटन, साधु-संतों का संग, इस प्रकार के आचरण करता है। कुछ लोग एकादशी के दिन व्रत करते हैं, तो कुछ पूर्णिमा के दिन। कुछ लोग फलाहारी होते हैं, तो कुछ जल पीकर रहते हैं। तरह-तरह की विधियाँ हैं। व्रत चाहे एक दिन का हो या चालीस दिन का, वह तो अपनी निष्ठा, संकल्प और मनौती पर निर्भर करता है, पर इतना जरूर है कि व्रत करने से शारीरिक, मानसिक और भावनात्मक शुद्धि होती है। जब मन की चंचलता व्रत से शांत हो जाती है, तब उपासना सरल हो पाती है। इसलिये गृहस्थों के लिये व्रतों का प्रावधान है। किस दिन व्रत करना, क्या खाना, क्या नहीं खाना, ताकि शरीर, प्राण, मस्तिष्क, मन और भावनाओं पर एक सकारात्मक असर पड़े और इनमें संतुलन एवं सामंजस्य की स्थापना हो जाए, जिससे फिर अन्य साधनाओं को सरलतापूर्वक किया जा सके।

घरों में कुलदेवता-कुलदेवी की आराधना होती है, पूजा-पद्धति की परंपरा है। जिनके गुरु हैं, वे गुरु-मंत्र से पूजा-अर्चना करते हैं। जिनके गुरु या आराध्य नहीं हैं, सिर्फ श्रद्धा है तो केवल धूप-दीप जलाकर, मस्तक टिका करके निकल जाते हैं। चाहे वह एक क्षण की आराधना हो या घण्टों स्तोत्रपाठ



के साथ, जब भी हम अपने घर में बने छोटे-से मंदिर में इस प्रकार की पूजा-आराधना करते हैं, तब कुछ क्षणों के लिए हम अपने मन को भौतिक विषयों से हटाकर परमात्मा से जोड़ते हैं और उस क्षण हमें शांति, सुख और तृप्ति मिलती है। अगर हम केवल धूप-दीप ही दिखा दें और मन में यह भाव रहे कि मैं भगवान के सामने धूप-दीप कर रहा हूँ, तो उस में ही शांति और तृप्ति मिलती है। और अगर बैठकर मंत्र जप करें, चाहे वह पंडित जी द्वारा किसी बुरे ग्रह के प्रभाव को दूर करने का मंत्र हो, या गुरु ने संपत्ति को लाने के लिए लक्ष्मी जी का मंत्र दिया हो, या किसी साधु ने बेटी की शादी करवाने के लिए दुर्गा जी का मंत्र दिया हो, इतने सारे मंत्रों को हम चाहे पाँच मिनट करें या

आधा घण्टा, मन में यही भाव रहता है कि मैं जो कर रहा हूँ, उससे मेरा भला होगा, मंगल होगा और इसी भावना से जुड़कर हम जप करते हैं। और जब मन में इस प्रकार की सकारात्मक भावना का उदय होगा, तब नकारात्मक वृत्तियाँ अपने आप दूर हो जायेंगी।

लोग तीर्थों में जाते हैं, देवालयों में भगवान का दर्शन करते हैं, यज्ञ-हवन करते हैं, अपनी किसी मन्नत, इच्छा या संकल्प को पूरा करने के लिए। पारिवारिक शांति या व्यवसाय में प्रगति के लिये भगवान की आराधना करते हैं। गृहस्थ आश्रम में हर व्यक्ति एक ही भावना से प्रेरित होकर आराधना करता है कि इससे मेरा शुभ हो, मंगल हो, दु:ख दूर हो जाए और सुख की प्राप्ति हो। जब उस व्यक्ति के लिये सब अनुकूल होता है, तब कहता है कि मुझ पर भगवान की बड़ी कृपा है, सब अनुकूल हो गया। यह एक प्रकार का समूह हुआ।

इसमें से कुछ लोग कहते हैं कि मैं थोड़ी और कठिन साधना-पूजा-अनुष्ठान-आराधना करूँ, ताकि किसी समस्या का समाधान तत्काल हो जाए। उसके लिए वे लोग फिर साधना करते हैं। जो जीवन में तनाव-चिंता से परेशान होते हैं, वे सोचते हैं कि कुछ जप-ध्यान करेंगे तो मन को शांति मिलेगी। मन के तनावों, चिंता-परेशानियों, मानसिक कमजोरियों को दूर करने और आत्मशक्ति एवं संकल्पशक्ति को प्राप्त करने के लिए ध्यान लगाते हैं।

यह एक गृहस्थ का, संसारी का परमात्मा के साथ सकाम सम्बन्ध हुआ, और इस सकाम सम्बन्ध को भी भक्ति का ही नाम दिया गया है। चाहे सकाम ही क्यों न हो, इच्छा-वासना ही क्यों न हो, पर तुम ईश्वर की आराधना तो कर रहे हो न! अच्छी चीज है, जरूर करनी चाहिए। इस सकाम आराधना को भी भक्ति का रूप दिया गया है और यह मार्ग गृहस्थ के लिए होता है।

त्यागी की साधना

त्यागी भी इस संसार में सत्यम्-शिवम्-सुन्दरम् की खोज करता है। लेकिन विषय-भोगों में नहीं, योग में खोजता है। जब योग में खोजता है, तब उसकी प्रवृत्ति और मानसिकता में थोड़ा अंतर आता है, क्योंकि सबसे पहले उसका सामना अपने मन के साथ होता है। अगर जानना चाहते हो कि मन किसे कहते हैं, तो एक महीना आश्रम में आकर रहो। जब छ: दिन केवल खिचड़ी खाने को मिलेगी तब मन कहेगा, 'कितनी खिचड़ी खा ली है, अब थोड़ा चटपटा

खाने की इच्छा हो रही है।' तब आपको मालूम पड़ेगा कि मन में कितनी शक्ति है, जो आपसे खिचड़ी का तिरस्कार करवाकर चटपटा खाने के लिए बाध्य कर रही है। जब एक छोटा-सा स्वाद मन के संतुलन को बिगाड़ सकता है और नई-नई इच्छाओं, वासनाओं, कामनाओं को जन्म दे सकता है, तब सोचो कि अन्य इन्द्रियों ने आपके जीवन में क्या हाल कर रखा है।

हमारे आश्रम में जो विद्यार्थी एक महीना बिताते हैं, उनसे जाने से पहले पूछते हैं कि क्या वे खुश हैं। वे कहते हैं, 'हाँ स्वामीजी, बहुत खुशी हो रही है।' 'घर जाकर क्या करोगे?' बोलते हैं, 'सबसे पहले तो खूब खाना खाऊँगा।' 'क्या यहाँ भूखे मर रहे थे?' 'नहीं स्वामीजी, भूखे नहीं मर रहे थे। लेकिन यहाँ का खाना बहुत सात्त्विक है और हमें चटपटा, राजसिक भोजन चाहिए।' ऐसी परिस्थिति होती है।

मन को झेलने से ही त्याग की प्रक्रिया आरंभ होती है। त्याग की प्रक्रिया में आसक्ति, मोह-ममता और वासनाओं का त्याग है। लोग गृह-त्याग या समाज-त्याग को त्याग मानते हैं, लेकिन त्याग वही नहीं है। ऐसा एक समय में आवश्यक था, किन्तु अगर इसे नये रूप से पारिभाषित किया जाए तो त्याग का तात्पर्य आसक्ति और मोह के त्याग से है। अगर बीवी से मोहित हैं, तो उन्हें प्रणाम कर लिया। अगर धन से आसक्ति है, तो धन को प्रणाम कर लिया। अगर भोग से आसक्ति है, तो भोग को प्रणाम कर लिया। जो भी हमारे बंधन का कारण है, उससे अपने आपको मुक्त करने का प्रयास ही अनासक्ति है।

हमारी परम्परा में जब कहा जाता है कि त्याग करना है, तो उसका सम्बन्ध घर-त्याग या परिवार-त्याग से नहीं, बल्कि तमस् के त्याग से होता है। अपनी तामसिक मनोस्थिति को सात्त्विक बनाना ही वास्तविक त्याग है। हमारे शास्त्रों में कहा गया है और मनीषियों ने समझाया है कि पवित्रता, शुद्धता और परमात्मा को प्राप्त करने के लिए तुम्हें अपने जीवन में मात्र इतना ही करना है। जितनी भी साधनाएँ हैं, सभी का प्रयोजन यही है कि हम धीरे-धीरे अपने भौतिक बंधनों को कम करते जाएँ, और हमारा ध्यान जो सांसारिकता की ओर प्रवाहित हो रहा है, वह ईश्वर की ओर प्रवाहित होने लगे। सांसारिकता की ओर जब जाते हैं तो बंधन है, और ईश्वर की ओर जब जाते हैं तो मुक्ति है। यही हमारा भारतीय चिंतन रहा है, जिसने त्याग के मार्ग को बल दिया है, शक्ति प्रदान की है। लेकिन इसका जो केन्द्र है, वह है मन।



त्यागी की आध्यात्मिक यात्रा मन के साथ शुरू होती है। सबसे पहले मन को झेलना पड़ता है। यहीं पर योग साधना आती है। *'योग: चित्तवृत्तिनिरोध:'* – योग के द्वारा चंचल चित्तवृत्तियों का निरोध होता है। एक बार जब चंचल चित्तवृत्ति का निरोध हो जाए, और मन एक विषय से दूसरे विषय पर नहीं भागे, तब ध्यान लगता है, एकाग्रता आती है और मन अपने आराध्य से एकाकार हो जाता है। यह है त्यागियों का मार्ग, जो मन से सम्बन्धित है, जबकि गृहस्थियों का मार्ग परिस्थितियों से सम्बन्धित है। अध्यात्म और धर्म इसी में बँटता है।

धर्म और अध्यात्म

धर्म एक व्यवस्था है, एक मान्यता है, एक विश्वास है, एक आस्था है, जो मात्र एक व्यक्ति को नहीं बल्कि एक वर्ग को, एक समाज को ऊर्जा प्रदान करती है। धर्म एक बाह्य सामाजिक व्यवस्था की ओर संकेत देता है और आपको अपने आराध्य के प्रति सजग बनाते हुए उससे जुड़ने के लिए प्रेरित करता है। यह एक बाह्य भौतिक व्यवस्था है, जो आपके सामाजिक जीवन में परमात्मा का चिन्तन करने के लिए आपको समय-समय पर बाध्य करती है।

दूसरी ओर, अध्यात्म जीवन में स्वत: और स्वाभाविक परिवर्तन की प्रक्रिया है। गृहस्थ का प्रयोजन और कार्य परिस्थितियों में परिवर्तन लाना होता है। इसलिए उसके लिए अध्यात्म परिस्थितियों से जुड़ा रहता है। दु:ख है तो उसकी निवृत्ति के लिए आराधना करना, साधु-संतों के पास जाना, कृपा माँगना, भभूति माँगना, आशीर्वाद के लिए याचना करना। उसी से जब जीवन में सब अनुकूल हो जाता है, तब सुख-शांति-तृप्ति मिलती है। वह अपने चारों तरफ मंगल और सौन्दर्य को देखता है, जिससे उसे इस भौतिक जगत् में उस ईश्वरीय, परमात्म तत्त्व का आभास हो जाता है। लेकिन वह आभास एक प्रतिबिम्ब जैसा है। जैसे आईने में अपने शरीर के प्रतिबिम्ब को देखते हो, उसी

प्रकार संसार में परमात्मा का आभास होता है। पर जब तुम अपने प्रतिबिम्ब का नहीं, बल्कि अपना ख्याल करने लगते हो कि 'यह मैं हूँ', तब वह मार्ग त्यागियों का होता है। इसकी शुरुआत मन के साथ होती है।

अध्यात्म का आधार–अद्वैत भाव

हमारे शास्त्रों में द्वैत भाव को मन का सबसे बड़ा दोष कहा गया है। इसी द्वैत भाव के कारण हम परिस्थितियों को, लोगों को, अच्छा या बुरा, सुखद या दु:खद के रूप में देखते हैं। यही द्वैत-भाव ऊँचा-नीचा, अमीर-गरीब का बोध दिलाता है। द्वैत-भाव ही 'मेरे पास है और मेरे पास नहीं है' का आभास दिलाता है, अपनी विपन्नता और सम्पन्नता का ज्ञान दिलाता है, अपनी कमजोरी और सामर्थ्य को सामने प्रस्तुत करता है। यही द्वैत भाव हमारे मन को हमेशा विचलित किये रहता है, क्योंकि मन हमेशा दो देखता है और सोचता है कि दूसरे के बगीचे की घास मेरे बगीचे की घास से ज्यादा हरी है। यह द्वैत भाव है।

हमारे शास्त्रों में कहा गया है कि अगर अपने जीवन में तुम अध्यात्म को पनपने देना चाहते हो तो पहले इस द्वैत भाव को समाप्त करो। द्वैत भाव की समाप्ति और अद्वैत भाव की जागृति ही अध्यात्म की आधारशिला है।

आत्मभाव

हमारे गुरु, स्वामी सत्यानन्द जी कहते हैं कि इस अद्वैत भाव को जाग्रत करना कठिन नहीं है। अगर लोग दार्शनिक दृष्टि से सोचने लग जायें तो द्वैत-अद्वैत की परिभाषा में ही फँसे रहेंगे। लेकिन अगर इस विचारधारा को हम एक नया रूप दें, तो अद्वैत अवस्था को प्राप्त करना कठिन नहीं है। जो इस अद्वैत अवस्था को प्राप्त कर सकता है, वह एक सद्गृहस्थ बनेगा और एक अच्छा साधु भी बनेगा। श्री स्वामीजी ने इस अद्वैत अवस्था को प्राप्त करने का कौन-सा सूत्र बताया है?

उन्होंने कहा कि अद्वैत भाव को तुम आत्मभाव के रूप में जानो। अपने को दूसरे में देखो। उन्होंने इसका उदाहरण दिया कि जब तुम्हारा बेटा बीमार पड़ता है, उसे तेज बुखार होता है, तब तुम रात भर उसके बिछौने के पास क्यों बैठे रहते हो? बुखार तो तुम्हारे बेटे को है, फिर तुम क्यों जगे हो? बेटे का उपचार तो चल रहा है, वह दवाई तो ले रहा है। तुम्हें तो निश्चिन्त हो जाना चाहिए कि डॉक्टर उसकी देखभाल कर रहा है और निश्चिन्त होकर अपने बिस्तर में

सो जाना चाहिए। लेकिन क्या होता है? उपचार भी चल रहा है, डॉक्टर भी बिस्तर के पास बैठा है और तुम भी वहाँ पर बैठे हो। क्यों बैठे हो? क्योंकि उस संतान को अपना मानते हो। अगर कोई दूसरा व्यक्ति होता, तुम वहाँ कभी नहीं बैठते, क्योंकि तुम दूसरे को अपना कभी नहीं मानोगे। तुम उसी के लिए बैठोगे जिसे तुम अपना मानते हो, जिसमें तुम अपने आपको देखते हो। यह अद्वैत का भाव है, यही आत्मभाव है। इस भाव को बढ़ाओ। तभी तुम्हारे जीवन में द्वैत का आभास समाप्त होगा।

आत्मभाव के विकास की व्यावहारिक विधि

हमारे गुरुजी कहा करते थे कि अभी तुम आत्मभाव का अनुभव केवल अपने स्वजनों के साथ कर पाते हो। लेकिन अगर इसी भाव को तुम दूसरों के साथ जोड़ दोगे और दूसरों को भी अपना मानोगे तो तुम्हारा जीवन शुद्ध, पवित्र और निर्मल हो जाएगा। उन्होंने इसका तरीका भी बताया।

मान लो कि तुम्हारे घर में तीन बच्चे हैं। तुम उनके लिए कपड़े खरीदने जाते हो। ऐसा क्यों नहीं मानते कि तुम्हारी तीन नहीं, बल्कि चार संतानें हैं। तीन तुम्हारे साथ हैं और एक तुम्हारे साथ नहीं, कहीं दूर अलग है। तुम उस अज्ञात संतान के लिए भी एक जोड़ा कपड़ा ले लो और घर ले आओ। देखो कि किसके जीवन में अभाव है, जिसे तुम वह वस्त्र दे सकते हो। जब उसे दोगे तब उसके जीवन में प्रसन्नता, हँसी, खुशी के फूल खिल उठेंगे कि मेरा



भी ख्याल करने वाला कोई माई-बाप है। अपने सामर्थ्य के अनुसार यह काम करो। अगर चार के लिए खरीदने की क्षमता है तो चार के लिए खरीदो। तीन तुम्हारे अपनों के लिए और एक अज्ञात संतान के लिए। अगर चार सौ के लिए खरीदने की क्षमता है, तो चार सौ के लिए खरीदो। तीन तुम्हारे अपनों के लिए, बाकी तीन सौ सत्तानवे तुम्हारी अज्ञात संतानों के लिए। अगर क्षमता है तो चार हजार बच्चों के लिए खरीदो, तीन तुम्हारे लिए और तीन हजार नौ सौ सत्तानवे अन्य बच्चों के लिए!

यह दान नहीं है, सेवा नहीं है, और न ही सामाजिक कर्त्तव्य है। इस बात को अच्छे से याद रखना। यह तुम्हारी अपनी अनुभूति और अभिव्यक्ति है। जिस प्रकार मैं अपनी संतान को देख रहा हूँ, उसी प्रकार दूसरों को भी देख रहा हूँ। जिस प्रकार मैं अपनी संतान के लिए कार्य कर रहा हूँ, उसी प्रकार दूसरे की संतान के लिए भी वही कार्य कर रहा हूँ। जब यह विचारधारा केवल एक चिन्तन के रूप में नहीं रहेगी, बल्कि तुम्हारे जीवन में वास्तविक अनुभूति बन जायेगी, तब जाकर तुम अपने आप को अद्वैत पद पर स्थापित कर पाओगे, उससे पहले नहीं। जो द्वैत में रहता है, वह अपने आपको कर्त्ता और भोक्ता, दोनों मानता है। लेकिन जब व्यक्ति अद्वैत अवस्था का अनुभव करने लगता है तब अपने आपको कर्त्ता-भोक्ता न मानते हुए केवल एक माध्यम मानता है, जिसके द्वारा सत्कार्य संपन्न किये जाते हैं। ऐसे व्यक्ति को ईश्वर की कृपा, ईश्वर का अनुग्रह अनायास प्राप्त होता है।

परमात्मा का साम्राज्य

यह आध्यात्मिकता का एक साधारण परिचय है। इससे मैं इस बात को भी सिद्ध कर रहा हूँ कि आध्यात्मिकता एक व्यवस्था या अनुशासन नहीं है। धर्म एक व्यवस्था, एक अनुशासन, एक मान्यता और एक विश्वास होता है, लेकिन आध्यात्मिकता जीवन की आराधना, जीवन के सौंदर्य की उपासना, जीवन में शांति की खोज और परम तत्त्व की अनुभूति है। जो द्वैत भाव को समाप्त कर अद्वैत की अवस्था को प्राप्त करता है, वह आध्यात्मिक जीवन में पहला कदम रखता है।

संसार और प्रकृति तमोगुणी है। जब हम इस संसार में इस शरीर रूपी वस्त्र में आते हैं, तब तमोगुण के प्रभाव शरीर और मन को संचालित करते हैं। मन का यह द्वैत भाव, जिसके कारण मन विक्षिप्त रहता है, यहीं से माया का



साम्राज्य आरंभ होता है। और जहाँ पर अद्वैत की अनुभूति होती है, वहाँ से परमात्मा का साम्राज्य आरंभ होता है।

माया के साम्राज्य में हम द्वैत भाव से युक्त होकर रहते हैं। द्वैत भाव ही माया की शक्ति है। लेकिन अगर आत्मभाव के द्वारा हम अद्वैत अवस्था को प्राप्त कर लेते हैं, तो हमें परमात्मा के साम्राज्य में जाने का वीज़ा मिल जायेगा। फिर वहाँ पर हम जब चाहे जा सकते हैं, तीर्थ करके आ सकते हैं, दर्शन करके आ सकते हैं।

साधुओं का चिंतन

साधु कैसे सोचता है? 'संसार में रहना मेरे जीवन का प्रयोजन नहीं है। मेरे जीवन का प्रयोजन है परमात्मा की प्राप्ति। उसके लिये मैं क्या करूँ? मैं कैसे उस परम-तत्त्व का अनुभव करूँ? इसके लिए मैं अपने आपको विकारों से, दोषों से मुक्त करूँगा।' ये विकार हमारे जीवन के छः शत्रु हैं, जिन्हें षड्-रिपु भी कहा गया है। ये छः शत्रु हैं – काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद और मात्सर्य। ये द्वैत भाव की छः संतानें हैं। साधु पहले इन्हीं छः शत्रुओं से संघर्ष करता है।

बृहदारण्यक उपनिषद् के अंतिम अध्याय में कहा गया है कि काम, क्रोध, मोह, लोभ, मद और मात्सर्य रूपी अग्नियाँ मनुष्य को जलाती हैं। ये अग्नियाँ मनुष्य को जलाकर उसके अस्तित्व को समाप्त कर देती हैं। जो इनके ताप को झेल सकता है वही साधु होता है। और जो इनके ताप को नहीं झेल सकता,

वह मानसिक दोषों और रोगों को प्राप्त करता है। अगर जीवन में काम, क्रोध, लोभ, मद, मोह और मात्सर्य प्रबल रहें और इनका उत्पात खोपड़ी में महीनों-सालों तक चलता रहे, तो क्या हाल होगा? इनके उत्पात से किसे शांति मिलेगी? इनके उत्पात से तो मन अधिक चंचल, विक्षिप्त, असंतुलित और असभ्य हो जायेगा।

सबसे पहले साधु अपने आप को इनसे संघर्ष करने के लिए तैयार करता है और इस संघर्ष के लिए उसका पहला अस्त्र त्याग का, विरक्ति का होता है। हम अपने आपको मोह, लोभ, घमण्ड, अभिमान, मद, ईर्ष्या, द्वेष, आदि से कैसे मुक्त करें? बिना त्याग के तो संभव नहीं है। इसलिए साधुओं की आध्यात्मिकता की शुरुआत त्याग के साथ होती है।

श्रद्धा तो गृहस्थ आश्रम में भी जुड़ी है, और संन्यास आश्रम में भी। लेकिन अगर गृहस्थ आश्रम में आध्यात्मिकता की शुरुआत श्रद्धा के साथ होती है, और वही पनपकर सुख दिलाती है, तो साधुओं के जीवन में श्रद्धा को त्याग के साथ संबल मिलता है। त्याग इन छः शत्रुओं से मुक्ति दिलाने का आधार बनता है। जब तक इन छः शत्रुओं से मुक्ति नहीं मिलती, तब तक हिमालय में भी शांति नहीं मिलेगी। और एक बार इन छः शत्रुओं से मुक्ति मिल जाती है तो भरे बाजार में भी आपको कोलाहल नहीं सुनाई देगा, क्योंकि आप अपने आप में ही शांत और स्थिर हो जायेंगे।

अध्यात्म में त्याग की परंपरा जुड़ने का यही कारण रहा है। द्वैत अवस्था की जिन छः संतानों – काम, क्रोध, लोभ, मद, मोह एवं मात्सर्य से हमारा जीवन प्रभावित और संचालित होता है, वे ही हमारी मानसिक विक्षिप्तता और अशांति का कारण बनती हैं। इन्हें संभालना जरूरी है और इन्हें संभाला जाता है त्याग के द्वारा। इसी कारण साधु का जीवन त्याग मार्ग को अपनाता है।

जो त्याग मार्ग को अपनाता है और इन छः शत्रुओं का सामना करके अपने आपको संसार के तामसिक प्रभावों से मुक्त करने का प्रयास करता है, वही अपने जीवन में आध्यात्मिक ऊँचाई को प्राप्त करता है, और अपने मानसिक आचरण एवं व्यवहार में सकारात्मक परिवर्तन लाता है। वह धीरे-धीरे साधु बनता है, संत बनता है। साधु-संतों की एक विशेष सोच, एक विशेष दृष्टिकोण होता है। साधुओं ने भी समाज के लिए एक संकल्प लिया है, एक इच्छा प्रकट की है, एक स्वप्न देखा है और उनका यह संकल्प, इच्छा और स्वप्न उनकी शिक्षाओं और सिद्धांतों में छिपा है, जिसकी चर्चा हम आगे के सत्संगों में करेंगे।

आध्यात्मिकता की परिभाषा

अपराह्नकालीन सत्र, 6 मार्च 2013

मनुष्यों का एक समाज है और यह समाज पूरे विश्व में फैला हुआ है। हम किसी भी राष्ट्र के नागरिक, किसी भी धर्म के अनुयायी क्यों न हों, पर सबसे पहले हम मनुष्य हैं और यह जाति या धर्म से ऊपर की पहचान है। मनुष्य समाज में अलग-अलग प्रकार के लोग तथा वर्ग दिखलाई देते हैं, लेकिन इन सभी का एक ही ध्येय और कार्य है कि इस मानव समाज का उत्थान और कल्याण किस प्रकार हो।

जो इस मानव समाज को सत्ता और कानून द्वारा व्यवस्थित करना चाहता है, वह राजनैतिक वर्ग कहलाता है। जो इस समाज को विद्या और कौशलता प्रदान करना चाहता है, जिसके द्वारा मनुष्य आत्म-निर्भर होकर अपने पैरों पर खड़ा हो सके, अध्यापक और शिक्षक वर्ग कहलाता है। जो समाज में स्वास्थ्य हेतु अपनी सेवा प्रदान करते हैं, चिकित्सक कहलाते हैं। जो समाज की व्यवस्था और निर्माण में अपना योगदान देना चाहता है, इंजीनियर कहलाता है और जो समाज में एक आन्तरिक अनुशासन, संयम, मर्यादा, शान्ति और संस्कृति को फैलाता है, साधु कहलाता है।

जैसे डॉक्टरों, पण्डितों, व्यवसायियों या इंजीनियरों की बिरादरी है, वैसे ही साधु-संन्यासियों की भी बिरादरी होती है। इस बिरादरी का काम केवल एक ही है, समाज में शान्ति के मार्ग को प्रशस्त करना और संस्कृति का प्रचार करना। इस दृष्टि से साधु भी समाज का एक अभिन्न हिस्सा है, समाज का पूरक है। आजकल लोग कहते हैं कि साधु लोगों को लूटता है, ठगता है, लेकिन साधु तो केवल एक-दो रोटी के लिए ही हाथ फैलाएगा न। साधु

आपसे करोड़ों की माँग नहीं करता, वह एक-दो रोटी या एक-दो धोती की माँग रखता है और जो व्यक्ति आपके सामने दो रोटी और दो धोती की माँग रखता है, उसे आप कहते हो कि लूटता है, धोखा देता है! जो करोड़ों हड़पते हैं, उनके बारे में फिर आपकी क्या राय है? यह भ्रान्ति गलत है कि साधु किसी को लूटता है। साधु का धर्म लूटना नहीं होता। साधु का धर्म अपने जीवन में आध्यात्मिकता को जाग्रत करना, अध्यात्म को सिद्ध करना होता है।

स्वामी शिवानन्द जी का त्यागमय जीवन

हमारे परम गुरु स्वामी शिवानन्द जी एक वरिष्ठ चिकित्सक रहे हैं। जिस युग में वे चिकित्सक थे, उस युग में शायद बहुत ही कम लोग एफ.आर. सी.एस. के डिग्रीधारी थे। मलाया देश में उनकी प्रैक्टिस होती थी। लेकिन एक दिन वहाँ उनकी मुलाकात एक साधु से होती है। साधु उन्हें एक किताब देता है, जिसका नाम था 'ब्रह्म-विचार'। करीब सत्तर-अस्सी पन्नों की छोटी-सी किताब है। जब हमें इसे देखने का अवसर मिला, तब हमने पाया कि उसमें भारतीय आध्यात्मिक चिंतन की मूल-धारणाओं को व्यक्त किया गया है। जो बात हम आपको बतला रहे हैं, वही बात उसमें लिखी गई है।

इस किताब को पढ़कर स्वामी शिवानन्द जी के मन में एक विचित्र, सुखद परिवर्तन हुआ। वे अपने कर्म-क्षेत्र का त्याग कर वापिस भारत आ गए। चेन्नई में जहाज से उतरे, अपने एक मित्र को बुलाकर कहा कि यह सामान घर में दे देना। मैं घर नहीं जा रहा हूँ, बल्कि गुरु की खोज में, परमात्मा की खोज में हिमालय जा रहा हूँ। वे जहाज से उतरकर ट्रेन पर चढ़े और उत्तर भारत की ओर निकल पड़े। वहाँ आकर गुरु की खोज में भ्रमण करने लगते हैं। इलाहाबाद, बनारस, पण्ढरपुर जैसे अनेक तीर्थस्थानों में जाते हैं, और अन्त में ऋषिकेश पहुँचते हैं। वहाँ पर भी अनेक सन्तों से मुलाकात होती है, लेकिन गुरु नहीं मिलते।

एक दिन जब वे दोपहर में एक पेड़ की छाया में आराम कर रहे थे और चिन्तन कर रहे थे कि मुझे मेरे गुरु कहाँ मिलेंगे, तब उन्हें लगा जैसे उनकी बन्द आँखों के सामने कोई छाया आई हो। जब वे अपनी आँखों को खोलते हैं तो देखते हैं कि सामने एक संन्यासी खड़े हैं। संन्यासी पूछते हैं, 'तू इस पेड़ के नीचे क्यों बैठा है?' स्वामी शिवानन्द जी कहते हैं कि मैं चिंतन कर रहा था कि मुझे मेरे गुरु कहाँ मिलेंगे। संन्यासी कहते हैं, 'मैं ही तेरा गुरु हूँ, तुझे अभी संन्यास की दीक्षा दूँगा।'



दस मिनट में उन्होंने सम्पूर्ण विधि-विधान से स्वामी शिवानन्द जी को संन्यास की दीक्षा दे दी। उन्होंने सिर्फ इतना बताया कि मेरा नाम स्वामी विश्वानन्द सरस्वती है और मैं तुम्हें स्वामी शिवानन्द सरस्वती के नाम से दीक्षा दे रहा हूँ। बस इतना कहकर वे चले गए। गुरु और चेले के बीच मात्र पन्द्रह-बीस मिनट की मुलाकात हुई। इस छोटी-सी मुलाकात में ही स्वामी शिवानन्द जी को उनके गुरुजी ने संन्यास की दीक्षा दी, जिससे उनके भीतर अध्यात्म की ज्योति प्रज्वलित हो गई।

जब लकड़ी सूखी रहती है तो जल्दी आग पकड़ती है पर जब लकड़ी गीली रहती है तब आग चाहे कितनी ही तेज क्यों न हो, लकड़ी से मात्र धुँआ निकलता है। जो आदमी संसार में रहता है, मोह-माया में आसक्त है, बंधन में है, वह गीली लकड़ी के समान है। उसे कितना ही जलाते जाओ, धुँआ ही निकलता है। पर जिसने अपने आपको सांसारिकता से अलग कर लिया है, वह सूखी लकड़ी के समान है। सूखी लकड़ी को एक माचिस की तीली भी जला सकती है। स्वामी शिवानन्द जी सूखी लकड़ी थे, क्योंकि उन्होंने सब छोड़ दिया था। वे एक ही चिंतन को लेकर आगे बढ़ रहे थे कि मैं किस प्रकार उच्च अनुभवों को प्राप्त करके दूसरों के उत्थान में अपना योगदान दे सकूँ। गुरु के साथ उनका जो पन्द्रह-बीस मिनट का सम्पर्क हुआ, वह पर्याप्त था। गुरु की ऊर्जा स्वामी शिवानन्द जी में अवतरित हो गई और स्वामी शिवानन्द जी संन्यास मार्ग पर चल पड़े।

आध्यात्मिक बाधाएँ

स्वामी शिवानन्द जी कहते हैं कि पहले आध्यात्मिक जीवन की बाधाओं को जान लो और उनसे अपने आपको सम्भाल कर रखो। जब तुम्हें मालूम होगा कि तुम्हारा शत्रु कौन है, तब तुम उससे बचकर रहोगे। अगर तुम्हें मालूम ही नहीं कि तुम्हारा शत्रु कौन है, तो उसके वार से कैसे बचोगे? हमारी

आध्यात्मिक उन्नति में कौन-से शत्रु बाधा डालते हैं? स्वामी शिवानन्द जी कहते हैं कि सबसे बड़ा शत्रु द्वैत-भाव है। यही माया का आधार भी है। फिर अहंकार है, अस्मिता है, मरने का भय है, घमण्ड, दर्प, अभिमान, राग-द्वेष, कामुकता, भावुकता, निष्क्रियता और दिमाग का मोटापन भी है।

शरीर मोटा होता है तो परेशानी होती है, चलने-फिरने में बहुत दिक्कत होती है। उसी प्रकार से अगर मन भी मोटा हो जाए, तो मन को हिलाने-डुलाने में बहुत दिक्कत होती है। मन पत्थर की तरह जड़वत् हो जाता है। स्वामी शिवानन्द जी कहते थे कि द्वैत का एक परिणाम मन का मोटापा है, मतलब मन की ग्रहणशीलता समाप्त हो जाती है।

आध्यात्मिक दैनन्दिनी

इन सभी बाधाओं के प्रति तुम सजग होकर चलो और साथ-ही-साथ एक सूची बना लो कि मैं किन चीजों से सावधान रहूँगा। वह तुम्हारी आध्यात्मिक दैनन्दिनी होगी, आध्यात्मिक डायरी होगी, जिसे तुम बार-बार देखोगे कि मैं इस दैनन्दिनी के अनुसार आध्यात्मिक बाधाओं के प्रति सजग हूँ या नहीं, इन परिस्थितियों को झेल पाता हूँ या नहीं।

इस प्रकार तुम आत्म-सजगता और आत्म-विश्लेषण की प्रक्रिया से गुजरोगे। जैसे-जैसे तुम अपने बारे में जानकारी हासिल करोगे, जैसे-जैसे तुम अपने व्यक्तित्व, स्वभाव, व्यवहार और आचरण को जान पाओगे, वैसे-वैसे कमजोरियों को बदलने का प्रयास करोगे। इसके साथ-साथ तुम दिव्य गुणों को अपने जीवन में धारण करोगे। तुम्हारा जीवन दिव्य होता जाएगा। स्वामी शिवानन्द जी ने इस प्रकार बहुत ही सरल तरीके से समझाया है कि जीवन की साधना किस प्रकार होनी चाहिए, जिससे हम आध्यात्मिकता, शुद्धता, पवित्रता और उच्च, दिव्य अनुभवों को अपने जीवन में स्थान दे सकें।

स्वामी शिवानन्द जी की यह राय रही है कि योगाभ्यास द्वारा मानसिक और शारीरिक दुर्बलता से तुम मुक्ति पा लो। प्रार्थना और ध्यान, श्रद्धा और भक्ति, आत्मविश्वास और संकल्प शक्ति को प्राप्त करके अपने आपको परमार्थ से जोड़ो। जब स्वामी शिवानन्द जी ने समाधि ली थी, तब उनके अन्तिम शब्द थे, 'ईश्वर ही इस जगत् में सत्य है।' इस अन्तिम वाक्य को बोलने के पश्चात् उन्होंने अपने प्राण छोड़े थे। इस सर्वोच्च अनुभूति को उन्होंने वाकई अपने जीवन में प्राप्त किया था।

भावशुद्धि

स्वामी शिवानन्द जी का कहना था कि जब भी मैं किसी स्त्री को देखता हूँ, तो उन्हें देवी का स्वरूप मानते हुए मन-ही-मन नमस्कार करता हूँ। मन में *ॐ दुर्गायै नमः, ॐ सरस्वत्यै नमः* और *ॐ लक्ष्म्यै नमः* के मंत्रों से अपने सामने खड़ी महिला का अभिवादन करता हूँ। उन्हें देवी का दर्जा देता हूँ और मुझे उनका आशीर्वाद प्राप्त होता है। जब मैं किसी पुरुष को सामने देखता हूँ, तब उसे देवता रूप में अभिवादन करता हूँ। तुम नारायण हो, शिव हो, मेरे मन में यह भाव आता है। *ॐ नमः शिवाय* या *ॐ नमो नारायणाय* कहकर उन्हें मन-ही-मन प्रणाम करता हूँ, और उनके आशीर्वाद को ग्रहण करता हूँ। ये स्वामी शिवानन्द जी के शब्द हैं। वे यह नहीं कहते कि मैं उनको आशीर्वाद देता हूँ। बल्कि वे कहते हैं कि मैं अभिवादन के पश्चात् उनके आशीर्वाद को ग्रहण करता हूँ!

स्वामी शिवानन्द जी ने इस सिद्धान्त को वास्तव में अपने जीवन में जीया है। उनके जीवन में अनेकों ऐसी घटनाएँ हुई हैं, जो साबित करती हैं कि एक पवित्र, शुद्ध अवस्था को प्राप्त करने के बाद ईश्वर की शक्ति उस मनुष्य के साथ हमेशा छाया के रूप में रहती है।



एक उदाहरण देता हूँ। ऋषिकेश में आश्रम बनने के पहले स्वामी शिवानन्द जी गंगा के दूसरे पार एक कुटिया में निवास करते थे। उनके बगल में अन्य कुटियाएँ थीं, जहाँ पर दूसरे साधु-संन्यासी निवास करते थे, अपनी साधना, सत्संग, स्वाध्याय किया करते थे। शाम के समय जब दो-चार साधु चलते-फिरते एक-दूसरे से मिलते थे, तब थोड़ी बातचीत भी होती थी। एक बार नवरात्रि का समय आ रहा था। स्वामी शिवानन्द जी के पड़ोसी साधु ने घूमते-फिरते कह दिया कि मेरी इच्छा है कि इस बार मैं माँ की पूजा पूरे साज-शृंगार के साथ, रत्न-वस्त्र-आभूषण-फल-फूल-द्रव्यों के साथ करूँ। लेकिन क्या करूँ, फकीर हूँ और कोई चेला है नहीं। उसने मजाक में स्वामी शिवानन्द जी के सामने ऐसी बात छेड़ दी, और उन्होंने चुपचाप उसकी बात सुन ली।

कुछ दिन बीते, सब लोग बात भूल गए। एक दिन जब ये स्वामी बैठे हुए साधना कर रहे थे, तब किसी ने दरवाजा खटखटाया। उन्होंने अपनी कुटिया का दरवाजा खोला तो देखा कि वहाँ पर तीन पंजाबी लड़कियाँ थाली लिए खड़ी हैं। साधु उन लड़कियों से पूछते हैं कि तुम कहाँ से आयी हो, यह सब क्या है? लड़कियाँ कहती हैं कि हमें स्वामी शिवानन्द जी ने भेजा है। आपने इच्छा व्यक्त की थी कि आप पूरी धूम-धाम से माँ की आराधना करना चाहते हैं, तो स्वामी शिवानन्द जी ने व्यवस्था करके यह सब सामान आपके लिए भेजा है। साधु ने सोचा कि हो सकता है स्वामी शिवानन्द जी ने अपने किसी



सम्पन्न भक्त से कहा होगा और उसी ने सब सामान की व्यवस्था की होगी। उन्होंने सामान ले लिया।

जब वे शाम को स्वामी शिवानन्द जी से मिलते हैं, तो कहते हैं, 'महात्मन् धन्यवाद।' शिवानन्द जी ने पूछा, 'किस चीज का धन्यवाद?' उसने कहा, 'आपने जो सामान भेजा है, उसके लिए।' शिवानन्द जी ने कहा, 'नहीं, मैंने तो कोई सामान नहीं भेजा। मैं कहाँ से भेजूँगा?' 'लेकिन जो तीन पंजाबी लड़कियाँ आई थीं, उन्होंने आपका नाम लिया है।' साधु ने दूसरे अन्नक्षेत्रों और आश्रमों में पता लगाया, पर कहीं पर उन लड़कियों का पता नहीं चला।

अनेकों साल बाद स्वामी शिवानन्द जी की महासमाधि के पश्चात् जब यही साधु आश्रम में आये, तब उन्होंने वहाँ के संन्यासियों को यह घटना सुनायी। उसने कहा, 'सच्चे भक्त और साधक तो वही थे। मैंने तो उनके सामने केवल अपनी इच्छा व्यक्त की थी, लेकिन जिसका भाव पवित्र है, मन पवित्र है, अगर वह कुछ सोचे तो भगवान स्वयं उसे पूरा करने के लिए उतावले हो जाते हैं। यह श्रद्धा और भक्ति की पराकाष्ठा है।'

जहाँ तपस्या और साधना आध्यात्मिकता का जाग्रत करने का पहला मार्ग है, वहीं श्रद्धा, भक्ति, प्रार्थना और आराधना दूसरा मार्ग है। दोनों मार्ग गृहस्थ पर भी लागू होते हैं और साधु पर भी। अन्तर केवल इतना है कि गृहस्थ की प्रार्थना सकाम और साधु की प्रार्थना निष्काम होती है। गृहस्थ अपने लिए प्रार्थना करता है जबकि साधु सबके लिए। साधु की प्रार्थना की शक्ति कई गुणा तीव्र हो जाती है। यह त्याग तथा निष्काम मानसिकता का परिणाम है। निष्काम मानसिकता का उपयोग भक्ति-मार्ग में भी होता है, कर्म-मार्ग और ज्ञान-मार्ग में भी। इसलिए मैंने निष्काम-मानसिकता शब्द का प्रयोग किया है, निष्काम-भक्ति का नहीं, क्योंकि यह एक भावना है, एक मानसिकता है, सोचने का एक तरीका है।

अध्यात्म के अठारह आधारभूत सद्‌गुण

स्वामी शिवानन्द जी कहा करते थे कि कुछ ऐसे गुण हैं जिन्हें जीवन में प्राप्त करने का अवश्य प्रयत्न करना, क्योंकि ये तुम्हारे जीवन को अनुशासित, व्यवस्थित और सकारात्मक बनाएँगे। जब तक तुम अपने जीवन को अनुशासित नहीं करोगे, द्वैत-भाव से मुक्ति संभव नहीं। अनुशासनहीनता तुम्हें पुनः द्वैत में खींचकर ले आएगी, जबकि अनुशासन तुम्हें अपने मन पर संयम देगा।

अपने आपको अनुशासित, व्यवस्थित करने के लिए जिन नियमों का पालन करना आवश्यक है, उनमें पहला है मन में सौम्य-भाव को धारण किए रहना। मन को डाँवाडोल नहीं होना है, न इधर झुकना है, न उधर। चेहरे पर सुख-दु:ख का चिह्न नहीं। रामचरितमानस में वर्णन आया है कि जब रामचंद्र जी को मालूम पड़ा कि उन्हें राज्य मिलने वाला है, तो वे मुस्कुराए। जब उन्हें मालूम पड़ा कि उन्हें वनवास मिला है, तब भी मुस्कुराए – 'बिहसे रघुराई।' अगर हमें वह खबर मिले, तो क्या चेहरे पर मुस्कुराहट दिखलाई देगी? नहीं। जिसका मन और चित्त स्थिर है, उसका स्वभाव सौम्य होता है। इसलिये अपने मन को स्थिर करके मन में सौम्य स्वभाव को अपनाओ, यह पहला अनुशासन है। इसी सौम्यता को श्रीकृष्ण ने गीता में मानसिक तप कहा है –

मन:प्रसाद: सौम्यत्वं मौनमात्मविनिग्रह:।
भावसंशुद्धिरित्येतत्तपो मानसमुच्यते ॥17.16॥

दूसरा अनुशासन नियमितता है। जो करते हो उसमें नियमितता होनी चाहिए, क्योंकि नियमितता से ही शरीर का, मन का, भावना का, आत्मा का पोषण होता है। आप निश्चित समय पर भोजन करते हैं या दिन-भर खाते रहते हैं? नाश्ते का, दिन के भोजन का, शाम के भोजन का एक समय होता है। उस समय पर भोजन करने से वह अच्छा पचता भी है, क्योंकि एक नियम, आदत, स्वभाव बना हुआ है। उसी प्रकार जब मन में कुछ नियम होते हैं, तब मन स्वास्थ्य, सुख और शान्ति को प्राप्त करता है।

सौम्य स्वभाव को धारण करना, नियमितता का पालन करना, अपने आपको दंभहीन, घमण्डहीन बनाने का प्रयास करना, निष्कपट होकर जीने का संकल्प लेना, सरल बनकर जीना, सत्य का आचरण करना, सम-भाव को धारण करना, एकाग्रता को प्राप्त करना, जीवन से चिड़चिड़ेपन को हटाना, व्यवहार-कुशल होना, विनम्र होना, दृढ़ निश्चयी होना, ईमानदार होना, शालीन होना, उदार होना, परोपकारी होना, दानी होना और पवित्र होना, स्वामी शिवानन्द जी ने इन 18 बिन्दुओं की चर्चा की है।

ये 18 बिन्दु, 18 चिंतन, 18 विचार मनुष्य के जीवन को व्यवस्थित और अनुशासित करते हैं। इस व्यवस्था और अनुशासन से लोभ, कामुकता, मूर्खता, ढिठाई, अस्थिरता, भद्दापन, सनक, चिड़चिड़ापन, इन सबसे हम मुक्ति पाते हैं, तनाव से मुक्ति पाते हैं। ये यम-नियम सभी के लिए एक-समान

लागू होते हैं, चाहे कोई गृहस्थ हो या संन्यासी। इनके द्वारा अपने चित्त के व्यवहार को ठीक रखना है।

हमलोगों की खोपड़ी में चार परतें हैं। पहली मन की, दूसरी बुद्धि की, तीसरी चित्त की और चौथी परत अहंकार की है। इन चार परतों की चंचलता ही चंचल चित्तवृत्तियों को जन्म देती है। इन वृत्तियों का निरोध करना शान्ति को प्राप्त करने का उपाय है। योग सूत्रों में कहा गया है, *योग: चित्तवृत्तिनिरोध:।* यह एक अनुशासन है, एक साधना है, एक प्रक्रिया है, जिसके द्वारा हम द्वैतपन के दुष्परिणाम से अपने आपको मुक्त कर पाएँगे और यही स्वामी शिवानन्द जी की शिक्षा रही है। यहाँ तक गृहस्थ आश्रम और संन्यास आश्रम के लिए ये समान बातें हैं।

ध्यान, पूजा, आराधना आदि का प्रयोजन सुख और शान्ति है, जिसकी प्राप्ति बाहर से नहीं, अपने भीतर में ही होती है। इस सुख-शान्ति की प्राप्ति हेतु, द्वैत-भाव के विभिन्न दुष्परिणामों से मुक्ति हेतु, जो व्यक्ति प्रयास करता है, वह साधक कहलाता है। साधक होने के नाते हम अपने मन के व्यवहार में, अपनी भावनाओं की अभिव्यक्ति में एक परिवर्तन लाते हैं। मन को सांसारिक विषयों की बजाय परमार्थ से जोड़ते हैं। इस अनुशासित मन को कुछ उच्च साधनाओं के द्वारा और भी तपाया जाता है। यम-नियम हर व्यक्ति के जीवन में एक सकारात्मक मानसिक परिवर्तन को लाते हैं और भौतिक मन को एक आध्यात्मिक वृत्ति से जोड़ते हैं।

आध्यात्मिक जीवन का परिणाम

हमारे दर्शनों में कहा गया है कि मनुष्य अपने मन से कभी मुक्त नहीं होता। समाधि या मुक्ति की अवस्था में भी मन चैतन्य, जाग्रत और गतिशील रहता है। लेकिन जब इस अवस्था में मन जाग्रत रहता है, तब उस समय मन का व्यवहार और स्वरूप किस प्रकार का होता है? अभी हमारा मन विषयात्मक है। समाधि की अवस्था में भी अगर मन विषयात्मक रहे, तो वह समाधि नहीं है। समाधि में हमारी सांसारिक वृत्ति बदलकर ब्राह्मी वृत्ति बन जाती है। वृत्ति का कभी नाश नहीं होता, वह केवल ब्राह्मी वृत्ति में बदल जाती है।

जिन वृत्तियों से हम संसार में प्रभावित होते हैं और जिन वृत्तियों के प्रभाव से हमें सुख और दु:ख का अनुभव होता है, वही वृत्ति जब ब्राह्मी बन जाती है, तब हम सांसारिक सुख-दु:ख के प्रभाव से मुक्त होकर ईश्वरीय चेतना में रमने

लगते हैं। जब वह ईश्वरीय चेतना भीतर में जाग्रत हो जाती है, तब मनुष्य का स्वभाव एक बाँसुरी की तरह हो जाता है।

एक बार राधा ने कृष्ण से कहा, 'हे कृष्ण! लगता है कि मुझसे ज्यादा आपको अपनी बाँसुरी प्रिय है।' कृष्ण कहते हैं, 'हाँ राधे! तुम ठीक कहती हो। निश्चित रूप से यह बाँसुरी मुझे अत्यन्त प्रिय है।' राधा ने पूछा, 'क्यों?' कृष्ण जवाब देते हैं, 'इसलिए कि यह अन्दर से खोखली है, इसके भीतर कुछ नहीं।'

आपने बाँसुरी के भीतर देखा होगा, कुछ नहीं, खोखलापन रहता है। जब खोखली बाँसुरी को कोई संगीतज्ञ बजाए, तब उससे कितनी मधुर ध्वनि निकलती है! जब कृष्ण जी एक खोखली वंशी को बजाते हैं, तब उस वंशी के संगीत से सभी प्राणी, सभी गोप-गोपी थिरकने लगते हैं। उसी प्रकार जब हमारी भौतिक वृत्ति आध्यात्मिक वृत्ति में परिवर्तित हो जाती है, तब हमारा जीवन भी बाँसुरी की तरह खोखला हो जाता है और हमलोगों के जीवन में ईश्वर का संगीत संचारित हो उठता है। यही अध्यात्म है।



वेदान्त दर्शन की शिक्षा

प्रातःकालीन सत्र, 7 मार्च 2013

हमारी सभ्यता वैदिक सभ्यता है, जिसमें अनेक सम्प्रदायों, दर्शनों, सिद्धांतों और धर्मों का जन्म और विकास हुआ है। ईश्वर में श्रद्धा और अपने में विश्वास, यह हमारी वैदिक सभ्यता का आधार रहा है। इसी श्रद्धा तथा विश्वास के बल पर हमारे ऋषि-मुनि कुछ उच्च अवस्थाओं को प्राप्त कर सके, अनुभव कर सके। और उन्होंने इन उच्च अवस्थाओं के बारे में बतलाया, जिनसे मनुष्य अपने जीवन में पूर्णता, सुख और तृप्ति प्राप्त कर सकता है। इस क्रम में जो विचारधारा प्रचलित हुई, वह वेदान्त कहलाई।

वेदान्त का केवल एक सूत्र रहा है, *'एको ब्रह्मः द्वितीयो नास्ति।'* ईश्वर एक है और उसके अतिरिक्त और कुछ नहीं है। इस ईश्वर की छवि को, इसके स्वरूप को हर जीव में, हर प्राणी में, प्रकृति के कण-कण में देखना वैदिक सभ्यता की मानसिकता रही है। रामचरितमानस में श्री तुलसीदास जी ने इसी की ही अभिव्यक्ति है, *'सियाराममय सब जग जानी, करउँ प्रनाम जोरि जुग पानी।'*

हमारी सभ्यता के इस मूल सिद्धांत का आधार निश्चित रूप से श्रद्धा और विश्वास रहा है। इसी के बल पर ईश्वर की सर्वव्यापकता की अनुभूति भी होती है। ईश्वर सर्वव्यापक है, हर प्राणी के भीतर, कण-कण में समाया हुआ है, ऐसे चिन्तन को प्रकट करने वाली संस्कृति और सभ्यता केवल हमारी है। इसमें स्पष्ट रूप से कहा गया कि जीवन में ईश्वर की खोज अनिवार्य है और यही हम सबका परम लक्ष्य है।

हमारे गुरु स्वामी सत्यानन्द जी कहते हैं कि मनुष्य जीवन का लक्ष्य ईश्वर प्राप्ति जरूर बनता है, लेकिन क्या वह संभव है? हम अपनी सीमित खोपड़ी से उस असीम तत्त्व को कैसे जान पायेंगे, कैसे ग्रहण कर पायेंगे? जो अचिन्त्य है, उसका चिन्तन कैसे कर पायेंगे? वे कहते थे कि उस अचिन्त्य को, उस अज्ञात को जानने-समझने का केवल एक ही तरीका है, अपनी पात्रता को बढ़ाना। हमारा जो सीमित मस्तिष्क है, जो सीमित मन है, उसमें असीम का अनुभव करने के लिये मन की सीमा को बढ़ाना होगा, उसे व्यापक करना होगा। जैसे-जैसे मन व्यापक होता है, वैसे-वैसे वह अनेक रूपों को धारण कर लेता है, एकाकी नहीं रहता। जब तुम्हारा मन एकाकी नहीं रहेगा, अनेक रूपों को धारण कर व्यापक होगा, तब ईश्वरत्व की अनुभूति दूर नहीं।

ईश्वर अंश जीव अविनाशी

हमारे गुरुजी कहते हैं कि तुम भूल गए हो कि वह ईश्वर ही तुम्हारे सबसे निकट है, तुम्हारी श्वास, सोच और चिंतन से भी निकट है। इस सत्य को भूलकर तुम ईश्वर को बाहर खोजते हो। लेकिन वास्तव में वह तुम हो। वह तुम्हारे भीतर है और तुम उसकी प्रतिमूर्ति हो, जो इस संसार में एक खेल खेलता है। लेकिन जब खेल खेलते हो, तब यह भूल जाते हो कि मैं खेल खेल रहा हूँ और अपने आप को खिलाड़ी के रूप में पहचानने लगते हो।

कोई आदमी सिनेमा देखने जाता है और वहाँ पर किसी दृश्य को देखकर रोने लगता है या क्रोधित हो जाता है। जबकि वह सिनेमा का पात्र नहीं है, वह केवल मूक द्रष्टा है। वह आदमी सिनेमा में अभिनय कर भी नहीं रहा है, केवल चुपचाप बैठकर पर्दे पर चित्रों को देख रहा है, फिर भी वह रोता है, हँसता है, क्रोधित होता है, भयभीत होता है, क्योंकि वह बैठे-बैठे अपने आप को कलाकारों से, अभिनय से, कहानी से जोड़ देता है।

जिस तरह तुम सिनेमा की किसी दुःखद घटना को देखकर खुद रोते हो, उसी तरह क्या तुम्हारे भीतर बैठा ईश्वर तुम्हारी दुर्दशा देखकर नहीं रोयेगा? जैसे तुम थियेटर में बैठते हो, वैसे ही ईश्वर भी हर मनुष्य के भीतर साक्षी बनकर बैठा है। ये हमारे गुरुजी के शब्द हैं। वह भीतर बैठा ईश्वर मनुष्य के सुख और दुःख से अलग नहीं है। अगर तुम अपने जीवन में दुःख का अनुभव करते हो, तो तुम केवल एक जीव के रूप में ही यह अनुभव नहीं कर रहे हो, तुम्हारे साथ ईश्वर भी उस दुःख का अनुभव कर रहा है। अगर अपने जीवन

में तुम सुख का अनुभव करते हो तो केवल तुम्हीं नहीं हँसते, बल्कि तुम्हारे भीतर बैठा हुआ ईश्वर भी हँसता और प्रसन्न होता है, क्योंकि वही आत्मा के रूप में तुम्हारे भीतर विद्यमान है। और जब वह तुम्हारे भीतर आत्मा के रूप में विद्यमान नहीं होता, तब वह अगोचर, अव्यक्त अवस्था में, परम तत्त्व के रूप में स्थित रहता है, जिसका स्वरूप सत्यम्, शिवम् और सुन्दरम् है।

हमारे भीतर जो आत्मा है वह ईश्वर का अंश है, प्रतिबिम्ब स्वरूप है। हमें इसी से सम्बन्ध जोड़ना है। जब इस अंतरात्मा से हमारा सम्बन्ध बैठ जाता है, तब हमें आध्यात्मिक शक्ति की प्राप्ति होती है। यह आध्यात्मिक शक्ति आत्मा से आती है।

बौद्धिक कुशलता द्वारा हम संसार में जीने की विद्या और हुनर प्राप्त करते हैं। हम स्कूल-कॉलेज जाकर पढ़ाई करते हैं, डिग्री मिलती है, नौकरी करते हैं, यह सब किसका परिणाम है? बौद्धिक कौशल का। अगर बौद्धिक कौशल न हो तो शिक्षा का कोई अर्थ नहीं निकलता।

जिस प्रकार से शिक्षा तुम्हारी बुद्धि को जगाकर संसार में जीने की विद्या और कला सिखलाती है, उसी प्रकार से जब तुम्हारा सम्बन्ध अपनी आत्मा के साथ जुड़ता है, तब तुम्हें जो शक्ति प्राप्त होती है वह आध्यात्मिक ऊर्जा है। आध्यात्मिक ऊर्जा जीवन के समस्त कष्टों को दूर करने में सक्षम है।

आध्यात्मिक ऊर्जा का चमत्कार

एक बार एक महात्मा इस इच्छा के साथ तपस्या करने लगे कि संभवत: तपस्या के अंत में मुझे मेरे इष्ट का दर्शन हो। तपस्या के अंत में भगवान प्रकट होते हैं और कहते हैं, 'मैं आ गया हूँ, वर माँगो।' साधु अभिभूत हो गया, उसने नतमस्तक होकर कहा, 'मेरी तपस्या पूर्ण हो गई है, मुझे आपका दर्शन हो गया। जो कामना थी, जिस लक्ष्य को लेकर मैंने यह तपस्या की थी, वह लक्ष्य सिद्ध हो चुका है। भगवन्, मेरे पास माँगने के लिए और कुछ नहीं है।'

भगवान कहते हैं, 'पर मेरे मुख से कुछ शब्द निकल गये हैं, जिन्हें पूरा करना होगा। सो वर माँगो।' साधु कहता है, 'भगवन्, आप तो अन्तर्यामी हैं। आप मेरे हृदय की भावना को जानते हैं। जब आपको मालूम है कि मुझे कुछ नहीं चाहिए, फिर आप बार-बार वर माँगने को क्यों कहते हैं।'

भगवान कहते हैं, 'क्या करूँ? इस धरती पर मैं जिसके भी सामने आता हूँ, वह मुझसे कुछ-न-कुछ चाहता ही है। इसलिए आदत पड़ गई है। जब प्रकट



होता हूँ, तब पहला वाक्य निकलता है, वर माँगो, ताकि औपचारिकता में ज्यादा समय नहीं बीते। मैं भक्त की मनोकामना तत्काल पूरी करके भागने की ताक में रहता हूँ।'

भगवान का कहना भी सत्य है, क्योंकि जितनी बार वे हमारे पास आयेंगे, हम उनसे कुछ-न-कुछ जरूर माँगेंगे। साधु कहता है, 'भगवन्, मुझे कुछ नहीं चाहिए। आप कुछ देकर मेरी भक्ति की खिल्ली मत उड़ाइये।' उसने प्रणाम किया और भगवान की ओर पीठ करके चल पड़ा।

भगवान इस भक्त से बहुत प्रभावित हुए। वे खड़े होकर सोच रहे हैं, 'यह कैसा भक्त है! आज तक मैं जितनी बार इस धरती पर आया हूँ, चाहे किसी मनुष्य के लिए या किसी राक्षस, देवता अथवा साधु-संत के लिए, सभी ने मुझसे कुछ-न-कुछ माँगा ही है। यह पहला व्यक्ति है जो मुझे पीठ दिखाकर मेरे वरदान का तिरस्कार करके जा रहा है, क्योंकि उसका प्रयोजन पूरा हो गया है। वह सिर्फ मेरा दर्शन चाहता था। लेकिन मैं भी अपने वचन से बँधा हूँ। क्या करूँ?'

जब भगवान ऐसा सोच रहे थे, तब उनकी नजर उस साधु की छाया पर पड़ी। वे छाया को अपना आशीर्वाद दे देते हैं कि जिस पर भी तुम पड़ो, वह फले और फूले। साधु को तो मालूम नहीं, वह तो मस्त होकर चलता गया। वह मगन है कि मुझे अपने प्रभु का, अपने आराध्य का दर्शन हो गया है। मेरा जीवन सफल हो गया है। लेकिन उस साधु के पीछे उसकी छाया चमत्कार करते चल रही है। अगर उसकी छाया सूखे वृक्ष पर पड़ती है, तो वह वृक्ष हरा-भरा हो जाता है। अगर छाया किसी अंधे पर पड़ती है, तो अंधे को नेत्र मिल जाते हैं। अगर छाया किसी कोढ़ी पर पड़ती है, तो उसका रोग दूर हो जाता है। अगर उसकी छाया किसी मृत शरीर पर पड़ती है, तो मृत शरीर जीवित हो जाता है।

इस साधु को लेकिन कुछ मालूम नहीं। जब तक मालूम नहीं, तब तक उसके भीतर सहजता, सरलता, विनम्रता है। इसीलिए जब भगवान आशीर्वाद देते हैं तब बतलाते भी नहीं हैं कि तुम्हें आशीर्वाद दे रहे हैं। उनका आशीर्वाद गुप्त रूप से, सहज रूप से आपके जीवन में सुख और मंगल लाता है।

माया का साम्राज्य

ईश्वर की इस अनुभूति, इस आशीर्वाद को प्राप्त करने के लिए हमें पहले माया का साम्राज्य झेलना पड़ता है। माया द्वैत भाव से शुरू होती है और जहाँ पर माया शुरू होती है, वहाँ पर सब तामसिक गुण पनपने लगते हैं।

मैं एक उदाहरण देता हूँ। एक जमीन को पाँच साल ऐसे ही छोड़ दो। उसमें क्या पाओगे? कोई फूल या फल का पौधा नहीं रहेगा, सब मोथे और काँटे ही रहेंगे। जब जमीन से मोथों और काँटों को साफ करके नये बीज डालोगे, तब उसमें फल-फूल दिखलाई देंगे। बिना परिश्रम के धरती में भी, जो ईश्वर की देन है, फूल और फल नहीं, बल्कि मोथे और काँटे उत्पन्न होंगे। यह तामसिक प्रवृत्ति है, तामसिक स्वभाव है।

इस जीवन में जब तुम आते हो, कोई तुम्हें यह नहीं सिखाता कि द्वेष, ईर्ष्या, क्रोध या घृणा कैसे करना है। अपने आप आ जाता है। लेकिन हर व्यक्ति पूछता है कि हम भक्ति कैसे करें, प्रेम को कैसे बढ़ायें, हमारे भीतर करुणा और संवेदशीलता कैसे आए। आदमी अच्छाई के लिए पूछता है पर बुराई तो अपने आप प्रकट होती है। काम, क्रोध, ईर्ष्या या द्वेष के बारे में कौन-से स्कूल में जाकर सीखे? लेकिन जब सत्य, सदाचार, अहिंसा, करुणा, प्रेम या माधुर्य के बारे में सीखना चाहते हो तो किसी आश्रम में जाते हो। ये स्वाभाविक गुण क्यों नहीं होते? इसलिए कि मन के तमोगुण के कारण अच्छाई स्वत: प्रकट नहीं होती।

किसी अभिनेता से पूछोगे तो वह यही कहेगा कि किसी बुरे पात्र का अभिनय करना सहज और स्वाभाविक रहता है, लेकिन एक पुण्यात्मा, एक अच्छे मनुष्य का अभिनय करना बहुत कठिन। अपने मन के कारण ही तमोगुण की अभिव्यक्ति सहज लगती है जबकि सत्त्वगुण की अभिव्यक्ति को प्राप्त करने के लिए परिश्रम करना पड़ता है। यह मन का द्वैत रूप है। इसी वजह से श्री स्वामीजी कहते थे कि सीमित मन में असीम को कैसे जान पाओगे, जिस मन का स्वरूप द्वैत है, उसमें तुम अद्वैत का अनुभव कैसे कर पाओगे?

अद्वैत अनुभव के सोपान

स्वामी शिवानन्द जी ने इस सम्बन्ध में कुछ निर्णय दिया, कुछ विचार दिये। वे कहते हैं कि अपने मन को साधा जा सकता है, शुद्ध और पवित्र किया जा सकता है, साधना के द्वारा। यह साधना तपस्या नहीं है, अपने मन को साधने की प्रक्रिया है।

आध्यात्मिक साधना में मन को साधने के आठ चरण होते हैं, जिनमें पहला शुद्धि है। दूसरा है एकाग्रता। मन की चंचलता और विक्षेप को कम करके एक बिन्दु में स्थित कर देना। तीसरा है चिन्तन, चिन्तन द्वारा विवेक-बुद्धि का प्रयोग करना। चौथा है ध्यान, ध्यान द्वारा अपनी वासनाओं और कमजोरियों का दमन। पाँचवा आत्मबोध, 'मैं कौन हूँ, क्या हूँ, किस प्रकार सहज रूप से एक सफल जीवन व्यतीत कर सकता हूँ।' छठा है सारूप्य, 'मेरे आराध्य और मुझमें कोई अंतर नहीं है, मैं उन्हीं की अभिव्यक्ति हूँ,' का भाव। सातवाँ है सायुज्य, अपने इष्ट में रम जाना और इष्ट को अपने में रमा देना। आठवाँ है निर्वाण, माया के बंधनों से, द्वैत के बंधनों से अपने आप को मुक्त कर देना और अद्वैत में स्थित हो जाना। ये आध्यात्मिक साधना के आठ सोपान हैं। इन्हें सिद्ध करने के लिए सबसे पहले अपने अहंकार का नाश करने की आवश्यकता होती है।

कठोर अहंकार का क्षय कैसे होगा? तीन साधनों से – आत्म-बलिदान, आत्म-समर्पण और आत्म-निग्रह। आत्म-बलिदान का मतलब अपना गला काट देना नहीं, बल्कि अपनी स्वार्थ भावना से ऊपर उठकर, नि:स्वार्थ भावना में स्थित होकर, दूसरों के उत्थान के लिए अपने आपको समर्पित कर देना है। अपनी स्वार्थ-वृत्ति से मुक्त होना ही बलिदान की अवस्था है। यह स्वार्थ-वृत्ति छः शत्रुओं – काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद और मात्सर्य द्वारा निर्मित होती है। ये छः शत्रु अपने ही प्रयोजन, अपने ही अर्थ को सिद्ध करना चाहते हैं, इसलिये स्वार्थ कहलाते हैं। स्वार्थ द्वैत में सिद्ध होता है, और नि:स्वार्थ भावना तभी सिद्ध होती है जब तुम द्वैत भावना से ऊपर उठ जाते हो। तभी तुम दूसरों से जुड़ पाओगे, ईश्वर की छवि को दूसरों में देख पाओगे। जब तक तुममें स्वार्थ है, द्वैत है, तुम नि:स्वार्थ भाव को अपने जीवन में धारण नहीं कर सकते। काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद और मात्सर्य द्वारा निर्मित स्वार्थ के जितने भी बंधन हैं, इन सबसे अपने आपको स्वतंत्र कर देना और अपने स्वार्थ का बलिदान कर देना, यही सच्चा आत्म-बलिदान है।



कठोर अहंकार के क्षय के लिये दूसरा उपाय आत्म-समर्पण है। जब तक अहंकार रहता है, मनुष्य अपने को ही कर्त्ता और भोक्ता मानता है। जो अपने को कर्त्ता मानता है, उसकी बुद्धि पदार्थ से, भौतिकता से जुड़ी रहती है, परमात्मा और आत्मा से नहीं। जिसने एक बार परमात्मा को अपनी नजरों के सामने कर लिया है, वह व्यक्ति अपने कर्मों को परोपकार का कर्म बनाने, अपने विचारों को सद्विचार का रूप देने का प्रयास करता है। ईश्वर की सजगता, ईश्वर से सम्बन्ध उस व्यक्ति के व्यवहार को बदल देता है।

जब ईश्वर से सम्बन्ध होता है, तब कर्त्तापन और भोक्तापन के भाव कम हो जाते हैं, *'नाहं कर्त्ता, नाहं भोक्ता'* का भाव आता है। जब तुम कर्त्ता नहीं और भोक्ता नहीं, तब कौन कर्त्ता है, और कौन भोक्ता? तुम कहोगे कि मेरी आत्मा, मेरे भीतर स्थित परमेश्वर ही कर्ता और भोक्ता है। शरीर और मन तो माध्यम हैं, मैं वास्तव में आत्मा हूँ। जब आत्मा कर्त्ता और भोक्ता दोनों है, तब फिर क्या भाव रहेगा? *नाहं कर्त्ता हरि: कर्त्ता हरि: कर्त्ता हि केवलम्। नाहं भोक्ता हरि: भोक्ता हरि: भोक्ता हि केवलम्।* यह समर्पण की स्थिति है। इस समर्पण की स्थिति में सुख और दु:ख में समता आ जाती है। मनुष्य न तो सुख से प्रभावित हो रहा है, न दु:ख से। *सीता राम सीता राम सीता राम कहिये, जाहि विधि राखे राम ताहि विधि रहिये।* यही समर्पण का वास्तविक स्वरूप है।

तीसरा बिन्दु है आत्म-निग्रह, अपने जीवन में संयम को लाना। संयम के द्वारा अपनी वासनाओं को धीरे-धीरे कम करने से हमारे जीवन में सुख-शांति आती है, क्योंकि वासनाएँ, कामनाएँ और इच्छाएँ ही इन्द्रियों, मन और भावनाओं की चंचलता का कारण बनती हैं।

इस प्रकार आत्म-बलिदान, मतलब स्वार्थ की सभी रस्सियों को काट देना, आत्म-समर्पण, अर्थात् स्वयं को हरि इच्छा के प्रति समर्पित कर देना और आत्म-निग्रह, यानि संयमित होना, इनके द्वारा अहंकार का क्षय होता है। इसके पश्चात् आत्म-विश्लेषण, आत्म-चिन्तन और आत्मान्वेषण, ये सभी आत्म-साक्षात्कार के उपाय बनते हैं। यहीं पर फिर उच्च आध्यात्मिक जागृति संभव हो पाती है।

मनुष्य जीवन का लक्ष्य

हमारे गुरु स्वामी सत्यानन्द जी हमेशा कहते थे कि मनुष्य जीवन का लक्ष्य ईश्वर प्राप्ति या मोक्ष नहीं है। मनुष्य जीवन का उद्देश्य और मनुष्य जीवन की दिशा अपने जीवन में आध्यात्मिक चेतना को जाग्रत करना है। जब हम साधना के इन विविध उपायों को धीरे-धीरे अपने जीवन में लागू करेंगे, तब आध्यात्मिक चेतना की जागृति होगी और जीवन में सौम्य, सात्त्विक गुणों की प्राप्ति होगी।

सात्त्विक गुण प्राप्त होने पर जीवन के व्यवहार में उनकी अभिव्यक्ति कैसे होगी? स्वामी शिवानन्द जी बतलाते हैं कि सात्त्विक गुणों की प्राप्ति से मनुष्य निर्भीक, निरंजन, विवेकी, सदाचारी, निष्कपट, निष्ठावान्, सत्यपरायण, धैर्यशील, सहनशील, आज्ञाकारी, सरल, विनम्र, सभ्य और सौम्य होता है। उसके जीवन में एक विलक्षण प्रतिभा रहती है और वह है, अपमान और तिरस्कार को सह लेना। यही जीवन की सर्वोच्च साधना है, क्योंकि इसके द्वारा मन कभी व्यथित नहीं होता।

हर व्यक्ति शांत मन को प्राप्त करना चाहता है, लेकिन शांत मन की क्या पहचान होती है? स्वामी शिवानन्द जी के शब्दों में शांत मन की पहचान है अपने तिरस्कार और अपमान से विचलित नहीं होना, सदा प्रसन्न रहना। ऐसे व्यक्ति का मन हमेशा शांत रहता है। जिस व्यक्ति का मन शांत है, जो तिरस्कार एवं अपमान से विचलित नहीं हो रहा है, जानना चाहिए कि उसकी आध्यात्मिक ऊर्जा प्रज्ज्वलित है।




BIHAR YOGA













धर्म और अध्यात्म

हमें धर्म और अध्यात्म के अंतर को जानना है और यह समझना है कि आध्यात्मिक क्या है। धर्म एक मान्यता है, सामाजिक व्यवस्था है, अनुशासन है, निष्ठा है, श्रद्धा है, आराधना है, कर्मकाण्ड है, उपासना है, जो बाह्य रूप से मनुष्य को ईश्वर से जोड़ती है। जबकि अध्यात्म अपने जीवन की शुद्धि की, जीवन की तामसिकता को दूर करके सात्त्विकता को अपनाने की, जीवन के मलों से अपने आपको दूर करके पवित्र और शुद्ध अवस्था को प्राप्त करने की, दुर्गुणों से मुक्त होकर अपने जीवन में सद्‌गुणों के फूलों को पनपने देने की प्रक्रिया है।

धर्म तथा अध्यात्म में यही अंतर है। अध्यात्म साधना का और धर्म परम्परा का विषय हो जाता है। जो एक परम्परा पीढ़ी-दर-पीढ़ी चली आ रही है, वह धर्म की अभिव्यक्ति है। जबकि अध्यात्म अपने जीवन में शांति, पूर्णता, सरलता, विनम्रता और शुद्धि को लाने का एक व्यक्तिगत प्रयास, एक व्यक्तिगत साधना है। बिना अध्यात्म के धर्म भी सिद्ध नहीं होता। धर्म का प्रयोजन आपको अध्यात्म की ओर ले जाना होना चाहिए, जिससे आप आंतरिक पवित्रता, शुद्धि और समभाव का अनुभव कर सकें, श्रद्धा, प्रेम और करुणा को अभिव्यक्त कर सकें। यही हमारे वेदांत दर्शन की शिक्षा है।

लोग कहते हैं कि वेदांत तो मात्र दर्शन है। लेकिन इस दर्शन को सिद्धों, मनीषियों, संतों और संन्यासियों ने व्यावहारिक रूप दिया है। वेदांत दर्शन को एक व्यावहारिक तरीके से जीया जा सकता है। उस मार्ग में आगे बढ़ने की इच्छा भी होनी चाहिए, क्योंकि यह जीवन को परिवर्तित करने की शिक्षा है। वेदांत भौतिकता के सम्मोहन से ऊपर उठकर आध्यात्मिक अनुभव में अपने आपको स्थापित करने की प्रक्रिया है। जिन बाधाओं के बारे में या जिन साधनाओं के बारे में या जिन अवस्थाओं के बारे में स्वामी शिवानंद जी ने अपनी शिक्षाओं में हमें बतलाया है, वे इसी वेदांतिक विचारधारा को सिद्ध करने के लिए हैं।

अगर आपको डॉक्टर बनना है तो स्कूल से ही इसकी पढ़ाई शुरू करनी पड़ती है। बायोलॉजी, फिज़िक्स, आदि विषयों को पढ़ना पड़ता है और धीरे-धीरे अलग-अलग विषयों को पढ़कर आप एक चिकित्सक बन सकते हैं। उसी प्रकार अपने जीवन में आध्यात्मिक चेतना को जगाने के लिए केवल मन के साथ संघर्ष करके उसका दमन नहीं होता। बल्कि मन की सारी सेना,



जो मनुष्य को भौतिकता से जोड़कर रखती है, उसकी क्षमता, सामर्थ्य, शक्ति और कमजोरी का ज्ञान होना चाहिए। तभी हम उस पर विजय प्राप्त कर पायेंगे।

मंत्र-साधना

आध्यात्मिक वृत्ति को जीवन में स्थान देने के लिए स्वामी शिवानन्द जी का बताया हुआ एक उपाय है मंत्र-साधना। प्राय: लोग सोचते हैं कि मंत्र करने के लिए बहुत विधि-विधानों का पालन करना होता है, किसी का चेला बनना पड़ता है। चेला बनना या न बनना, वह तुम्हारी इच्छा पर निर्भर है। होटल में जाकर खाना खाओ या घर में, वह तुम्हारे ऊपर है। लेकिन खाना बनाना आना चाहिए। खाना कैसे बनाया जाए, यह मंत्र-साधना से हम जान पाते हैं।

जब हम किसी मंत्र का जप करते हैं, उस समय मन की द्वैत अवस्था में हम ईश्वर का नाम ले रहे हैं, ईश्वर के रूप का चिन्तन कर रहे हैं, ईश्वर के गुणों का ख्याल कर रहे हैं। मंत्र-साधना में ये तीन चीजें हो रही हैं। उदाहरण के लिए, अगर तुम *ॐ नम: शिवाय* कहते हो, तो मन में कौन-सा रूप दिखलाई देगा? विष्णु, ब्रह्मा, अग्नि, इन्द्र या वरुण का रूप नहीं, शिवजी का रूप दिखेगा। मंत्र के साथ मन के भीतर एक स्वरूप प्रकट होता है। जब स्वरूप दिखलाई देता है, तब उस स्वरूप के गुण को भी तुम जान पाते हो। शिवजी का क्या गुण है? नारायण का, राम का, देवी का क्या गुण है? जब उनका

स्वरूप सामने आयेगा तब तुम जानोगे कि इनके ये-ये गुण हैं, जो सुख-शांति प्रदान करते हैं, जो जीवन की दुर्दशा और दुर्गति से मुक्त होने में हमारी सहायता करते हैं और हमारे जीवन में परिस्थितियों को अनुकूल बनाते हैं।

मंत्र-साधना के प्रारम्भ में कुछ समय तक ऐसा होता है कि हम शांति से बैठकर माला पकड़ें, मंत्र का जप शुरू करें, इष्ट पर ध्यान लगायें, उनके गुणों का चिन्तन करें। जैस-जैसे मंत्र में प्रवीणता आती है, वैसे-वैसे पाओगे कि मंत्र जप करने के लिए बैठने की या माला पकड़ने की आवश्यकता नहीं है, मंत्र मन में चलता रहता है। जिस मंत्र का जप महीनों तक बैठकर तीन माला या पाँच माला रोज किया है, अब वही मंत्र सहज और स्वाभाविक रूप से तुम्हारे मन के भीतर चलने लगता है। कभी-कभी ख्याल आता है कि यह मंत्र मेरे मन में पता नहीं कितनी देर से चल रहा है। बहुतों को ऐसा अनुभव भी हुआ होगा कि सो रहे हैं और मस्तिष्क में मंत्र चल रहा है। जगने पर वह ख्याल, वह सजगता बनी रहती है कि सोते समय भी मैं मंत्र का जप कर रहा था। यहाँ पर स्थूल साधना अब अपना प्रभाव सूक्ष्म स्तर पर डाल रही है। उसकी सजगता सूक्ष्म स्तर पर बनी है। कुछ समय बाद इस मंत्र के कारण दृष्टिकोण बदल जाता है। जब हम किसी को देखते हैं और मन में *ॐ नमः शिवाय* का मंत्र चल रहा है, तो हम अपने आराध्य के स्वरूप को दूसरे में देख पाते हैं। यह मंत्र-साधना की परिणति है। यहाँ केवल संन्यासियों की बात नहीं हो रही है, ऐसा गृहस्थ साधकों ने भी अनुभव किया है।

इस प्रकार जब मन पर मंत्र की पकड़ हो जाती है, तब अंतर्मन चैतन्य हो उठता है और आध्यात्मिक संस्कार पनपने लगते हैं, आध्यात्मिक चेतना की जागृति होती है। इसलिए हर व्यक्ति के लिए मंत्र-साधना को पकड़ना अनिवार्य है। हमारी भारतीय संस्कृति में गुरु-शिष्य परम्परा में मंत्र-साधना को ही महत्त्व दिया गया है। चेला गुरु के पास क्यों आता है? मंत्र लेने के लिए। मंत्र से क्या चाहता है? अपने दुःखों-कष्टों से मुक्ति। गुरु-चेला का सम्बन्ध मंत्र का है, क्योंकि मंत्र के द्वारा ही गुरु अपनी शक्ति सम्प्रेषित करते हैं। मंत्र शक्ति के द्वारा शिष्य के भीतर आध्यात्मिक चेतना की जागृति होती है, जो पहले उसे अपने इष्ट के साथ जोड़ती है। जब इष्ट के साथ मनुष्य जुड़ जाता है, तब वह इष्ट की छवि को संसार में देखता है और संसार के सामने नतमस्तक होता है। उसके तामसिक और संकीर्ण विचार बदलते हैं और वह सद्विचारों से युक्त होकर एक सदाचारी मनुष्य का जीवन व्यतीत करता है।



सामान्य व्यक्ति के लिए यह उसके अध्यात्म की पूर्णाहूति है, क्योंकि अगर वह इस तरीके से एक सदाचारी जीवन व्यतीत कर सके; शुद्ध चिन्तन, पवित्र जीवनशैली और सकारात्मक आचरण को अपना सके, तो उसके जीवन में राम-राज्य की स्थापना हो जाती है। जिसके जीवन में राम-राज्य का अनुशासन स्थापित हो जाए, उसके जीवन में फिर कभी कोई क्लेश, दु:ख, कठिनाई, तनाव या परेशानी नहीं होती। फिर वह मनुष्य इस संसार में वैसे जीता है, जैसे तालाब में कमल। कमल तालाब में खिलता है, लेकिन तालाब के पानी से अप्रभावित रहता है।

यह हमारे वेदांत दर्शन की सबसे बड़ी सीख है कि जिस चीज को तुम अव्यक्त, अनंत, अगोचर, अचिन्त्य मानते हो, उसे अपने स्तर तक कैसे ला सकते हो, कैसे उसका अनुभव प्राप्त कर सकते हो। दर्शन का यह व्यावहारिक तरीका हमें संतों के जीवन में दिखलाई देता है, क्योंकि वे तभी संत बनते हैं, जब एक चिन्तन को अपने जीवन में अपनाकर उसका आचरण करते हैं।

जो एक चिन्तन को आचरण में नहीं उतार पाता, बस कह देता है कि बहुत अच्छी बात कही जा रही है, लेकिन मैं तो नहीं कर सकता, वह व्यक्ति ढेला कहलाता है। ढेले को एक बार फेंक दिया, जहाँ गिर गया, वहीं पर वर्षों तक पड़ा रहता है। जिस व्यक्ति को बार-बार याद दिलाना पड़ता है कि तुम और कुछ कर सकते हो, तुममें वह क्षमता, शक्ति और प्रतिभा है, जिसको बार-बार प्रोत्साहित करना पड़े, उस व्यक्ति को ठेला कहते हैं, क्योंकि उसे बार-बार ठेलना पड़ता है। जो व्यक्ति शिक्षाओं को आत्मसात् कर लेता है और उनके अनुसार जीता है, वह व्यक्ति चेला कहलाता है। अगर निकम्मा बनना है तो ढेला बनो। अगर हँसते-रोते, गिरते-पड़ते चलना चाहते हो तो ठेला बनो। अगर अच्छा बनना है तो चेला बनो। इच्छा आपकी है।

आध्यात्मिक जीवनशैली

अपराह्नकालीन सत्र, 7 मार्च 2013

आध्यात्मिकता मनुष्य जीवन में शुद्धिकरण की प्रक्रिया है, जो आन्तरिक विकारों को दूर करके आन्तरिक शान्ति की प्राप्ति कराती है। उस शान्ति की प्राप्ति के पश्चात् जीवन में सुख और सम्पन्नता भी आती है। यह सुख और सम्पन्नता केवल भौतिक नहीं बल्कि मानसिक, भावनात्मक और आध्यात्मिक भी होती है। जीवन के हर कर्म में सुख-शान्ति रहती है, जीवन के हर व्यवहार में समझ रहती है।

इस प्रकार के दिव्य आचरण और व्यक्तित्व को प्राप्त करके फिर तुम जिस मार्ग में भी बढ़ना चाहो, बढ़ो। अगर संसार के मार्ग में आगे बढ़ते हो, तो अच्छा आदमी बनकर बढ़ोगे और सम्मान, प्रेम, सहयोग पाओगे। अगर त्याग के मार्ग में आगे बढ़ते हो तो निश्चित रूप से तुम्हारे जीवन की शान्ति तुम्हें परम तत्त्व की अनुभूति दिलाएगी। जिस रास्ते पर भी चलोगे, चाहे वह भौतिक जगत् का मार्ग हो या आध्यात्मिक जगत् का, वहाँ पर तुम्हें सफलता मिलेगी। मानव के क्रम विकास का यही सिद्धान्त है। मनुष्य का निरन्तर विकास होता रहता है। हर जन्म में मनुष्य का विकास होता है। तभी तो पूर्णता की प्राप्ति सम्भव हो पाती है। वेदों में कहा गया है कि मनुष्य पूर्ण से उत्पन्न हुआ है, पूर्ण को प्राप्त होगा, पूर्ण में रहता है, पूर्ण में जीता है और पूर्ण में मरता है।

दुःख से निवृत्ति

जब हम शास्त्रों को पढ़ते हैं, चाहे वे वैदिक ग्रन्थ हों या सांख्य, तंत्र अथवा अन्य किसी दर्शन के, इन सबमें एक सामान्य वस्तु दिखलाई देती है। मनुष्य

को अपने जीवन में दु:खों का निदान खोजना है। तंत्र शास्त्र में माता पार्वती भगवान शिव से पूछती हैं, 'संसार में तो दु:ख ही दु:ख है, क्या संसार में आदमी केवल दु:ख को झेलने के लिये जन्म लेता है?' भगवान आशुतोष कहते हैं कि नहीं, जिस संसार को तुम दु:खालय कहती हो, वास्तव में यह दु:खों का आलय नहीं है। यह तो एक प्रशिक्षण केन्द्र है, जहाँ पर मनुष्य अलग-अलग परिस्थितियों और परिवेशों में अपने आपको उन परिस्थितियों से ऊपर उठाने का प्रयास करता है। जब जीवन में दु:ख रहता है, तब मनुष्य दु:खों से मुक्ति चाहता है। जब जीवन में रोग रहता है, तब मनुष्य रोग से मुक्त होना चाहता है। जब जीवन में कष्ट होता है, मनुष्य कष्ट से मुक्त होना चाहता है। जैसे-जैसे वह अपने आपको अपने दु:खों और कष्टों से मुक्त करेगा, वैसे-वैसे उसकी उन्नति होगी, उसका विकास होगा, वह अधिक सामर्थ्यवान्, सक्षम, निष्ठावान् एवं श्रद्धावान् बनेगा और उसे आत्मबल की प्राप्ति होगी।

माता पार्वती आगे पूछती हैं कि भगवन्, दु:ख कितने प्रकार के होते हैं, और इनसे मुक्ति का क्या उपाय है, यह आप हमें बताइए। फिर भगवान शिव तंत्र शास्त्र की व्याख्या करते हैं। तंत्र शास्त्र की व्याख्या ईश्वर-साक्षात्कार से संबंधित नहीं है। भले ही हम लोग उसका ऐसा अर्थ लगा दें, लेकिन तंत्र के विचारों और साधनाओं का लक्ष्य मनुष्य के जीवन से दु:ख की निवृत्ति है। वही चीज महात्मा बुद्ध ने भी कही है। महात्मा बुद्ध ने भी अपने जीवन में तीन प्रश्न किए – दु:ख क्या है? कहाँ से आता है? और इसका अन्त कैसे होता है? इन्हीं तीन प्रश्नों ने उनके जीवन के आचरण और व्यवहार को बदलकर उनके चिन्तन को एक नई दिशा प्रदान की। इसी तरह सांख्य दर्शन में महर्षि कपिल से उनकी माता ने पूछा था, 'संसार में सुख कब होता है? संसार में तो चारों ओर दु:ख दिखलाई देता है।' तब महर्षि कपिल ने सांख्य दर्शन के सन्दर्भ में अपनी माता को दु:ख-निवृत्ति का उपाय बताया था।

हम भारत के ग्रन्थों-शास्त्रों को देखते और पढ़ते हैं। हमारा अनुभव रहा है कि किसी भी ग्रन्थ में यह नहीं कहा गया कि साधना के द्वारा तुम ईश्वर-दर्शन करोगे। बल्कि सभी ग्रन्थों में कहा गया है कि साधना के द्वारा तुम अपने दु:खों से मुक्त हो सकते हो। इससे यह साबित होता है कि हमलोगों की दर्शन-प्रक्रिया जीवन से जुड़ी हुई है। मनुष्य का जीवन किस प्रकार उत्तम हो सकता है? किस प्रकार मनुष्य दु:ख, क्लेश, चिंता और परेशानी से मुक्ति



पाकर एक शान्तिपूर्ण, सुखमय जीवन व्यतीत कर सकता है, यह दर्शनों का विषय है। लेकिन जब हम साधना मार्ग में आगे बढ़ते हैं, तब गुरु निर्देश देते हैं, समझाते हैं, तरीका बतलाते हैं, सिखलाते हैं, साधना करवाते हैं कि अपने मन के द्वैत को तुम कैसे झेल पाओगे। गुरु ही मन को एक लक्ष्य देते हैं। वह लक्ष्य क्या है? उस परम-तत्त्व में अपने मन को एकाग्र करो, जिसे तुम परमात्मा, इष्ट या आराध्य कहते हो।

यहाँ विचित्र बात हो रही है। शास्त्र कहता है कि दुःख से निवृत्त होना है और गुरु कह रहा है कि परम-तत्त्व में अपने ध्यान को लगाओ। हमसे बहुत लोग पूछते हैं, 'स्वामीजी, आप लोग कहते हैं कि भगवान का दर्शन होना जीवन का लक्ष्य है। लेकिन शास्त्रों में तो कहीं नहीं कहा गया है।' हम इसे एक दृष्टान्त से समझाते हैं।

प्रतिपक्ष भावना

एक तराजू में आप एक तरफ सब्जी भर देते हो और दूसरे पलड़े पर तौलने के लिये वजन रखते हो। अगर हमें पाँच किलो चाहिए और तीन किलो का वजन रखा है, तो उस पर हम और वजन रखेंगे। जब पाँच किलो का वजन हो जाएगा, तब पलड़े संतुलित हो जाएँगे। यदि इस पलड़े में हम पाँच किलो का वजन और रख देंगे, तो यह भारी होकर नीचे हो जाएगा और सब्जी वाला ऊपर चला जाएगा।

इसी सिद्धान्त को अपने मन के साथ लागू करो। तुम्हारे जीवन में अच्छाई भी है और बुराई भी, प्रतिभा भी है और दोष भी। तराजू के एक पलड़े पर अपनी बुराइयों और दोषों को रख दो, दूसरे पलड़े पर अपनी अच्छाइयों, खूबियों, सामर्थ्यों और प्रतिभाओं को। देखो कि कौन-सा भारी है, अच्छायों का या बुराइयों का। अगर तुम्हें अच्छाइयों को भारी बनाना है, तो अच्छाइयों पर ही वजन दोगे। अगर तुम बुराइयों को निकालने का प्रयास करोगे तो तुम्हारा ध्यान हमेशा वहीं रहेगा और तुम अच्छाइयों को नहीं बढ़ा पाओगे।

इसलिए हम अच्छाइयों पर ध्यान दें और उस पलड़े को भारी बनाते जाएँ। बुराइयाँ अपने आप हल्की हो जाएँगी। इसे हमारी योगभाषा में प्रतिपक्ष-भावना कहते हैं। जो तुम अभी अनुभव कर रहे हो, उसका उल्टा देखो। अगर तुम्हारे जीवन में दु:ख है, तो दु:ख से तादात्म्य मत करो। अगर बुरे विचार आ रहे हैं, तो विचार को बदलो। माई का दूध पिये हो तो इतनी क्षमता तो होनी चाहिए कि अपने विचार को बदल सको। नहीं तो दूध पीने का क्या फायदा! अगर माई का दूध पीया है, तो तुम अपने मन को अपने नियन्त्रण में, अपने वश में कर सकते हो। तुम्हारा मन ही तुम्हारे जीवन में चंचलता, उद्विग्नता और विक्षेप का कारण होता है, और वही तुम्हारे व्यवहार को निश्चित करता है। दु:ख के समय एक सुखद विचार के साथ अपने आपको जोड़कर रखना, संघर्ष के समय उस स्रोत का ध्यान करना, जिससे तुम्हें शक्ति मिलती है, यही प्रतिपक्ष-भावना है।

दुःखों का वर्गीकरण

इसलिए सिद्धान्त कहता है कि दु:खों की निवृत्ति जीवन का कर्म है और गुरु कहते हैं कि ईश्वर से जुड़ना जीवन का धर्म है। दोनों के मिलन से हम अपने दु:खों को देख पाते हैं और उनसे अप्रभावित रह सकते हैं। वैसे तो दु:ख अनेक

प्रकार के हैं, लेकिन इन्हें तीन मुख्य भागों में बाँटा गया है – आधिदैविक, आधिभौतिक और आध्यात्मिक।

आधिदैविक – आधिदैविक दु:ख का मतलब भूकम्प या बाढ़ जैसा दैवी प्रकोप होता है, जिसपर हमारा कोई नियन्त्रण नहीं रहता। इस दैवी प्रकोप के दु:ख को झेलने के लिए ईश्वर के प्रति समर्पण का भाव होना आवश्यक है, क्योंकि जो चीज तुम्हारे नियन्त्रण से बाहर है, उसे तो स्वीकार करना ही पड़ेगा। क्या तुम भूकम्प रोक पाओगे? नहीं, उसे स्वीकार करना पड़ेगा और यथासम्भव अपनी रक्षा करनी होगी। परिस्थिति से अपने आपको जोड़ना होगा और उसके अनुसार अपने आपको संभालना भी होगा। समझ और समर्पण, इन दो विधियों द्वारा आधिदैविक दु:खों से हम अपने आपको सम्भाल सकते हैं।

आधिभौतिक – दूसरे प्रकार का दु:ख आधिभौतिक है, जिसका मतलब वह चीज जो बाहर से हमें प्रभावित कर रही है। खाना खाया, पेट गड़बड़ा गया। प्रदूषण में श्वास ले रहे हैं, फेफड़ों में तकलीफ होने लग गई। जीवन में अनुशासन नहीं तो उच्च रक्तचाप हो जाता है। हम अपने लोभ को नहीं रोक सकते हैं, अपनी जिह्वा के स्वाद को नहीं रोक सकते हैं, तो मधुमेह की बीमारी हो जाती है। ये सांसारिक रोग कीटाणुओं से, भौतिक परिस्थितियों से उत्पन्न होते हैं। हम जिन भौतिक परिस्थितियों को झेल नहीं सकते, उनके कारण हम जिस रोग से ग्रस्त हो जाते हैं, उसे आधिभौतिक कहते हैं। इन दु:खों को झेलने का उपाय अनुशासन और योग है। अनुशासन है जीवन की व्यवस्था और योग है साधना।

अनुशासन का मतलब क्या हुआ? उठने, खाने, सोने का समय निश्चित होना, प्रकृति के नियमों के अनुसार होना। विज्ञान बतलाता है कि जब सूर्योदय होता है, तब हमारे भीतर की ऊर्जाएँ जाग्रत होती हैं और जब सूर्यास्त होता है, तब हमारी प्राणशक्ति भी दुर्बल हो जाती है। इसीलिए हमारी भारतीय परम्परा में पहले प्रावधान था कि सूर्योदय और सूर्यास्त के बीच भोजन कर लो। यह एक अनुशासन था जिसके पीछे एक वैज्ञानिक चिंतन रहा है कि तुम उस समय अन्न ग्रहण करो, जब तुम्हारे प्राण जाग्रत हों। अगर तुम्हारे प्राण सुषुप्त हैं और उस समय अन्न ग्रहण करोगे, तब तुम स्वस्थ के बदले बीमार पड़ोगे।

आजकल ऐसा ही होता है। आदमी रात को खाता है दस बजे, सोता है ग्यारह बजे। सबेरे उठता है तो कब्जियत, डकार, गैस, वायु, पित्त के



साथ। फिर डॉक्टर के पास जाकर पेट की दवाई माँगता है। ऐसा होगा ही, क्योंकि तुम भोजन तब कर रहे हो, जब तुम्हारे प्राण सुषुप्त हैं। जब प्राण सुषुप्त हैं, तब तुम्हारा शरीर पौष्टिक आहार कैसे ग्रहण कर पाएगा? पौष्टिक तत्त्व के अभाव में शरीर रोगग्रस्त होगा ही।

लेकिन जब हम जीवन में एक व्यवस्था कर देते हैं, तब हमारे अंगों का कार्य सुचारू रूप से होता है। पाचन कार्य और श्वसन सुचारू होता है, सोचना अच्छा होता है, दिमाग की प्रक्रिया तीव्र हो जाती है, इन्द्रियों में शक्ति आती है और मनुष्य शक्ति-सामर्थ्य को प्राप्त करता है। लेकिन अगर वह अनुशासन का पालन नहीं करेगा, तो सबसे पहले उसकी शक्ति क्षीण होगी, और वह दुर्बलता को प्राप्त करेगा। शरीर दुर्बल हो जाएगा, मन दुर्बल हो जाएगा। इसलिए आधिभौतिक दु:खों से निवृत्ति के लिये समय की व्यवस्था आवश्यक मानी गई है, क्योंकि समय की व्यवस्था से तुम अपने जीवन के कार्यों को अधिक अनुशासित कर पाओगे। जब जीवन के कार्य अनुशासित हो जायेंगे, तब तुम्हें निश्चित रूप से स्वास्थ्य लाभ होगा।

जब हम रोगग्रस्त हो जाते हैं, चाहे वह शारीरिक रोग हो या मानसिक, उससे मुक्ति का उपाय खोजना है। जो आधुनिक चिकित्सा है, वह रोग का नहीं, बल्कि रोग के लक्षणों का उपचार करती है। अगर उच्च रक्तचाप या दमा हो जाए, स्नायु-संस्थान कमजोर हो जाए या शरीर में दुर्बलता आ जाए, तो वह परिस्थिति शरीर को अन्दर से प्रभावित कर रही है। योग में इसका निदान है। योग के अभ्यास तुम्हारे शरीर, प्राण और सूक्ष्म ऊर्जा, इन तीन चीजों को एक साथ नियन्त्रित करते हैं। प्राणशक्ति और मन की ऊर्जा, दोनों में संतुलन होने पर स्वास्थ्य की प्राप्ति होती है, ऐसा योग का मत है।

स्वास्थ्य की प्राप्ति किस प्रकार होती है? शरीर की अपनी प्रतिरोधक क्षमता बढ़ती है, ताकि वह किसी भी रोग का विरोध कर सके। अगर नियति में था कि तुम्हें पन्द्रह दिन बुखार रहेगा, पर तुम योग से अपने शरीर को साध

सकते हो, तो पन्द्रह दिन नहीं, तुम पाँच दिन में ही ठीक हो जाओगे। अगर नियति में था कि तुम्हें इतनी उम्र के बाद मधुमेह होने वाला है, जिससे तुम जिन्दगी भर पीड़ित रहोगे, तो तुम योग साधना के द्वारा बीमारी होने के बाद भी अपने आपको कुछ महीनों में ठीक कर सकते हो। इस प्रकार हम अपने जीवन में एक व्यवस्था को लाकर आधिभौतिक प्रकोपों से अपने आपको मुक्त करने की व्यवस्था कर सकते हैं।

आध्यात्मिक – तीसरे प्रकार का दु:ख आध्यात्मिक बतलाया गया है, जिसकी उपज भीतर से होती है। चिंता, परेशानी, तनाव जैसी विभिन्न प्रकार की मनोस्थितियाँ होती हैं। अगर किसी से द्वेष, घृणा या ईर्ष्या हो जाए, तब उस मनोरोग से भी हमारा रक्तचाप बढ़ जाता है, अनिद्रा हो जाती है, भूख समाप्त हो जाती है, शरीर के सभी सामर्थ्य और शक्तियाँ हड़ताल पर चले जाते हैं। तनाव, चिंता, परेशानी मनोरोग के कारण बनते हैं, आध्यात्मिक रोगों के कारण बनते हैं। आज हम सबको इसी चीज ने परेशान कर रखा है।

नौकरी, घर, समाज, सब जगह तनाव है। चारों तरफ तनाव का यह वातावरण आदमी की अपनी उपज है। अगर इस परिस्थिति को सुधारना है, तो पहले अपने मन को सुधारो, अपने भीतर के तनाव को दूर करो, परेशानियों से दूर रहो। इसके लिए साधनाएँ हैं, उपाय हैं।

इतना सब करते हुए हम अपने आपको दु:ख से मुक्ति तो दिला सकते हैं, लेकिन उसके बाद क्या? दु:खों से मुक्ति के पश्चात् मन की सुखपूर्ण अवस्था में पूर्णता का आभास होता है। आप लोगों ने अनुभव किया होगा कि कभी-कभी हमारा सामना ऐसी परिस्थिति से हो जाता है, जिसमें मन से अनायास यह उद्‌गार प्रकट होता है कि अब कुछ नहीं चाहिए, मैं तृप्त हो गया। कभी-कभी तीर्थ में दर्शन हो जाता है, अच्छा लगता है, आनन्द की अनुभूति होती है, उद्‌गार निकलता है कि मैं तृप्त हो गया, मुझे अपने इस जीवन में और कुछ नहीं चाहिए। तृप्ति का वह एक क्षण जो आपने अनुभव किया, उसके कारण आपके मुँह से ये शब्द निकले कि अब मुझे कुछ नहीं चाहिए। तृप्ति का मतलब क्या हुआ? पूर्णता। मैं पूर्ण हो गया, अब कुछ नहीं चाहिए। यह जो तृप्ति का सुख है, वही शान्ति और आनन्द प्रदान करता है। और तृप्त होने का जो मार्ग है, वह अपने आपको तनाव से दूर करना है।

इन तीनों दु:खों की जड़ द्वैतभाव है। ऐसा केवल सन्तों ने नहीं, बल्कि शास्त्रों ने भी कहा है। हम अपने आपको हर प्राणी से अलग देखते हैं। और

हमें इसका अभिमान है। यही अभिमान हमें माया के वश में करता है। इस अभिमान का त्याग कर देने से हम माया के बंधन से मुक्त हो जाते हैं। समय-समय पर जो भी संत-महात्मा जन्म लेते हैं, वे माया के बंधन से छूटने के लिए आध्यात्मिक जीवनशैली जीने का तरीका प्रस्तुत करते हैं।

आध्यात्मिक जीवनशैली

हमारे परमगुरु स्वामी शिवानन्द जी चिकित्सक थे और चिकित्सक के रूप में उनका कार्य रोगों का उपचार था। उन्होंने चिकित्सक के रूप में बहुतों का उपचार भी किया, लेकिन वे कभी संतुष्ट नहीं हुए, क्योंकि उन्हें अनुभव हुआ कि मैं शरीर को तो ठीक कर रहा हूँ, लेकिन इनके जीवन में जो अभाव है, जिसके कारण ये शारीरिक और मानसिक रोगों से ग्रस्त हैं, उसका उपचार मैं चिकित्सा विज्ञान के माध्यम से नहीं कर सकता। जब उनको रास्ता मिला तब उनकी समझ में यह बात आई कि पदार्थ का उपचार पदार्थ द्वारा नहीं, बल्कि अध्यात्म द्वारा संभव है। तब उन्होंने अपनी नौकरी का त्याग कर दिया।

पदार्थ का उपचार अध्यात्म से करना बहुत ही सुन्दर सोच है। जब स्वामी शिवानन्द जी ने संन्यास ग्रहण किया और कालान्तर में आश्रम की स्थापना की जहाँ शिष्यों का जमघट हुआ, उन्होंने अपने शिष्यों और अनुयायियों को तीन चीजों की प्रेरणा दी। पहला काम, सेवा करना; दूसरा कार्य, सबसे प्रेम करना, और तीसरा कार्य, दूसरों के दु:ख-कष्ट को अपना मानना। स्वामी शिवानन्द जी की ये तीन प्रमुख शिक्षाएँ रही हैं।

सेवा – सेवा किसलिए करनी चाहिए? स्वामी शिवानन्द जी का मानना था कि मनुष्य जीवन भर कर्म करता है, जिसका प्रयोजन स्वार्थपूर्ति होता है। लेकिन जब उसी कर्म को हम स्वार्थपूर्ति के लिए नहीं, बल्कि परोपकार की भावना से जुड़कर करें, तब वही कर्म सेवा का रूप ले लेता है। जब हम अपने लिए भोजन करते हैं, तब स्वार्थ कर्म हुआ। जब हम दूसरे को भोजन दे रहे हैं, तो परमार्थ कर्म हुआ। जब हम अपना उपचार करते हैं, तब स्वार्थ कर्म हुआ। जब हम दूसरों का उपचार करते हैं तब सेवा कर्म हुआ।

प्रारम्भ में मनुष्य का कर्म स्वार्थ से थोड़ा अलग होकर परमार्थ से जुड़ जाए, तो उतना ही पर्याप्त है। उससे ज्यादा नहीं चाहिए। सौ प्रतिशत स्वार्थ से जुड़े हुए कर्म में बीस प्रतिशत परमार्थ जोड़ दो। तो क्या होगा? अस्सी प्रतिशत स्वार्थ और बीस प्रतिशत परमार्थ। वह कर्म तुम्हारी सेवा हो जाएगी। वह कर्म

तुम्हारी आत्म-संतुष्टि या स्वार्थपूर्ति के लिए नहीं, परोपकार के लिए होगा और सेवा का रूप लेगा। जब सेवा का रूप लेगा, तब तुम्हारे कर्म से दूसरों के जीवन में प्रसन्नता आएगी, खुशी आएगी। तुम्हारे कर्म से वे अपने आपको धन्य मानेंगे और उनका आशीर्वाद तुम्हें प्राप्त होगा।

जीवन के स्वाभाविक कर्मों में संतुलन लाने के लिए स्वामी शिवानन्द जी ने कहा कि कर्म करो, लेकिन कर्म को सेवा का रूप दे दो। अस्सी प्रतिशत कर्म अपने और अपने परिवार के लिए करो और बीस प्रतिशत कर्म परोपकार की भावना से जुड़कर करो। इससे एक नये सोच, व्यवहार और आचरण की एक प्रक्रिया शुरू हो जाएगी। एक बार जब तुम एक कदम ले लोगे, तब दूसरा कदम स्वाभाविक रूप से आगे बढ़ेगा ही।

प्रेम – दूसरा सूत्र है प्रेम। हम अपनों से प्रेम करते हैं। जिसे हम अपना नहीं मानते, उससे प्रेम करना बहुत मुश्किल होता है। उससे दोस्ती भले ही हो सकती है, लेकिन उस प्रकार का प्रेम हम नहीं कर पाएँगे, जैसा प्रेम हम अपनों से करते हैं। हमारे गुरुजी कहते हैं कि वही व्यक्ति अपने जीवन को सुधार सकता है, जो दूसरों के दु:खों को समझता है। जो दूसरों के दु:खों को समझ सकता है, दूसरों के दु:खों के प्रति संवेदनशील है और दूसरों को दु:खों से मुक्त करने के लिए प्रयासरत है, वही व्यक्ति अपने जीवन को प्रगति के पथ पर आगे ले जा सकता है और अपने भीतर ईश्वर का अनुभव कर सकता है।

जब ईश्वर का अनुभव होने लगता है तब प्रेम का होना स्वाभाविक है, क्योंकि हर व्यक्ति को अन्त में ईश्वर से, आराध्य से ही प्रेम होता है। अपने आराध्य को चाहे किसी भी रूप में देखो, पर अन्त में वह स्वरूप सृष्टि के हर कण में दिखाई देता है और वह तुम्हें सृष्टि से, ईश्वर से, सभी प्राणियों से जोड़ देता है और समस्त संसार तुम्हारे लिए तुम्हारा कुटुम्ब हो जाता है। *'वसुधैव कुटुम्बकम्'* की भावना प्रेम की शक्ति है। प्रेम द्वैत को मिटा सकता है, दो को जोड़ सकता है। तब तुम दूसरों के प्रति संवेदनशील हो जाते हो और दूसरों के दु:खों को जानकर अपने सामर्थ्यानुसार उनकी सहायता करते हो। आखिर गिलहरी ने भी सेतु निर्माण में अपना योगदान दिया था। नल, नील, अंगद, हनुमान बड़े-बड़े पर्वतों और चट्टानों को लाकर डाल रहे थे, लेकिन एक छोटी गिलहरी रेत के कणों को लाकर डाल रही थी। जिसका जितना सामर्थ्य है, परोपकार के लिए वह उतना ही प्रयत्न करे। जहाँ दु:खी की आह तुम्हारे लिए श्राप बन सकती है वहीं उसकी मुस्कान तुम्हारे लिए जीवन का

सबसे बड़ा वरदान बन सकती है। यह प्रेम का प्रभाव है, जो स्वामी शिवानन्द जी का दूसरा सूत्र है।

परोपकार – तीसरा सूत्र है परोपकार। परोपकार की भावना को अपने भीतर जाग्रत करो। जब परोपकार की भावना जाग्रत होगी, तब तुम देने लगोगे। क्या दोगे? वह वस्तु दूसरों को प्रदान करोगे, जिसके द्वारा उनके जीवन का अभाव दूर हो और जीवन में मंगल आए।

सेवा, प्रेम और परोपकार से तुम आन्तरिक शुद्धता को प्राप्त करोगे। स्वामी शिवानन्द जी के सिद्धान्तों की चौथी अवस्था आन्तरिक शुद्धता है। जब तुम्हारा चरित्र और अन्तर्मन शुद्ध हो जाएगा, तब तुम अच्छे बनोगे और अच्छा करोगे। जब तुम अच्छे बनोगे और अच्छा करोगे, तब तुम तुम्हारा ध्यान हमेशा परमात्मा में रमेगा और तुम उन्हें प्राप्त कर लोगे।

स्वामी शिवानन्द जी ने यह तरीका बताया है। यही तरीका हमारे शास्त्रों में भी दिया है, लेकिन शास्त्रों की शिक्षा को उन्होंने प्रासंगिक बनाते हुए वर्तमान से जोड़ा है। स्वामी शिवानन्द जी के अनुसार मनुष्य जीवन में यही आध्यात्मिकता का आरम्भ है।

महिलाओं का उत्थान

जैसे शरीर को चलने के लिए दो पैरों की आवश्यकता होती है, वैसे ही आध्यात्मिक जीवन में भी आगे बढ़ने के लिए दो पैरों की आवश्यकता होती है। एक पैर का नाम भक्ति है, दूसरे का शक्ति। भक्ति कैसी? हनुमान जी जैसी। और शक्ति कैसी? अंगद जैसी। अंगद ने जहाँ पर अपना पैर एक बार जमा दिया, कोई उसे हिला नहीं पाया। रावण के बड़े-बड़े योद्धा, मेघनाद आदि सब हार गये।

गृहस्थ हो या संन्यासी, दोनों के लिए भक्ति और शक्ति जरूरी हैं। भक्ति भावनात्मक संवेदनशीलता को बढ़ाते हुए भावनाओं को एक दिशा प्रदान करती है, और शक्ति हमें संसार में अच्छे तरीके से जीने का सामर्थ्य। भक्ति और शक्ति का उद्‌गम कहाँ है? हमारे गुरुजी बतलाते हैं कि माताएँ और महिलाएँ ही भक्ति और शक्ति का उद्‌गम हैं, केन्द्र हैं। वे हमेशा कहते थे कि महिलाओं का उत्थान आवश्यक है, उसके बिना समाज का निर्माण नहीं होगा। पुरुष समाज का निर्माण नहीं करता। वह तो स्वभाव से कठोर और लट्‌ठबाज होता है। लाठी चलाने के बाद फिर सोचता है। जबकि महिला कठोर नहीं, कोमल होती है।



कोमलता में संवेदनशीलता है। हम जीवन भर कोमलता के गुणों की खोज करते हैं। जब हमें कुछ चाहिए होता है, जब हमें कुछ कष्ट होता है, तब हम रोते हुए किसके पास जाते हैं? क्या पिताजी के पास जाते हैं? वहाँ तो भूलकर भी नहीं जाएँगे। पता नहीं कब थप्पड़ मार दें। जब आवश्यकता होती है, तब हम माँ के पास ही जाते हैं और माँ से ही कहते हैं। माँ संवेदनशीलता और कोमलता की प्रतिमूर्ति होती है। उसके जीवन में प्रेम, स्नेह, मैत्री, करुणा और आत्म-भाव जैसे गुण स्वाभाविक रूप से दिखाई देते हैं।

हमारे गुरुजी कहते थे कि अगर महिलाओं में इस प्रतिभा को बढ़ने का अवसर दिया जाए तो वे अपनी प्रतिभा का उपयोग अपने परिवार के उत्थान और समाज के निर्माण के लिए कर सकती हैं। वे दूसरों को अच्छा चिंतन और अच्छा संस्कार प्रदान कर सकती हैं, सत्कर्म करने की प्रेरणा दे सकती हैं। इसलिए महिलाओं की शुद्धता और सम्मान पर हर व्यक्ति को ध्यान देना है। महिलाएँ हमारी संस्कृति की राजदूत होती हैं, पुरुष नहीं। जब आपकी बेटी ब्याह कर दूसरे घर में जाती है, तब उसने अपने घर में जिस संस्कार और

संस्कृति को पाया है, वह उसकी राजदूत बनकर, उस संस्कृति के संस्कार और विचार लेकर दूसरे घर में जाती है और वहाँ अपने आपको स्थापित करती है, अपने और अपने परिवार के जीवन का निर्माण करती है। इसलिए श्री स्वामीजी हमेशा कहते थे कि महिलाओं के योगदान को कभी मत भूलना।

एक बार बचपन में हमने एक किताब पढ़ी थी, जिसमें लिखा था कि संन्यासियों को स्त्रियों से दस हाथ दूर रहना चाहिए। हमने गुरुजी के पास जाकर कहा, 'स्वामीजी, हमने किताब में पढ़ा है कि संन्यासियों को स्त्रियों से दस हाथ दूर रहना चाहिए।' उन्होंने हमारी ओर देखकर कहा, 'क्या अपनी माँ से भी दस हाथ दूर रहोगे?' हमने कहा, 'नहीं।' 'तब तुम स्त्रियों को माँ के रूप में क्यों नहीं देखते? अगर तुम स्त्री को स्त्री रूप में देखोगे तो दस क्या, बीस हाथ दूर रहना पड़ेगा। लेकिन अगर तुम उन्हें माँ के रूप में देखते हो, तो तुम उनकी गोद में भी जाकर बैठ सकते हो। माँ उस चीज को स्वीकार करती है।' श्री स्वामीजी के मन में महिलाओं के लिये ऐसा भाव था। वे उन्हें संस्कृति और संस्कार का राजदूत मानते थे। वे कहा करते थे कि अगर अध्यात्म की भावना माता की संवेदनशीलता से जुड़ जाए और परिवार में संवेदनशीलता, सौम्यता, प्रेम, सद्भावना, सत्कर्म और सद्विचार छा जाएँ, तो निश्चित रूप से समाज बदल जाएगा, और वह उत्तम, सुसंस्कृत, व्यावहारिक एवं आध्यात्मिक बनेगा।



आध्यात्मिक चेतना की जागृति

प्रात:कालीन सत्र, 8 मार्च 2013

इस साल बिहार योग विद्यालय की स्थापना के पचास वर्ष पूरे हो रहे हैं। पिछले पचास वर्षों में बिहार योग विद्यालय ने जो यात्रा पूरी की है, उसका उद्देश्य आध्यात्मिकता का प्रचार ही रहा है। पचास वर्ष पूर्व मुंगेर में योगाश्रम की नींव डालते हुए गुरुजी ने कहा था कि यह योगाश्रम एक आध्यात्मिक मिशन है। उन्होंने यह नहीं कहा कि यह कोई धार्मिक संस्था है, बल्कि यह कहा कि हम एक आध्यात्मिक मिशन की नींव डाल रहे हैं, जिसमें हमें आप सबका सहयोग चाहिए। आध्यात्मिकता का प्रचार ही योगाश्रम का लक्ष्य, उद्देश्य और प्रयोजन है। यह कहकर गुरुजी ने इस लक्ष्य को स्पष्ट किया कि मनुष्य जीवन का उद्देश्य आध्यात्मिक चेतना को प्राप्त करना है। उनके इस योगाश्रम के द्वारा जो कार्य सम्पन्न हो रहा है, उसे देखकर हम कह सकते हैं कि वह जन-जीवन में एक आध्यात्मिक मिशन की क्रांति को ला रहा है।

गीता की मूल शिक्षा

आज एकादशी का शुभ दिन भी है और आश्रम परम्परानुसार हम लोग आज श्रीमद् भगवद् गीता का अखण्ड पाठ करते हैं। समरभूमि में कृष्णजी ने अर्जुन को कर्म, कर्त्तव्य, धर्म, भक्ति और ज्ञान का पाठ दिया था। कई लोग गीता को धर्म-ग्रंथ कहते हैं। आप जो भी नाम लेना चाहो, लेकिन हम तो यही मानते हैं कि उसके पाठ से जीवन के कर्म सुधरते हैं। अर्जुन भ्रमित हो गया था, पर गीता का ज्ञान पाने के पश्चात् अपने आपको सम्भाला और कर्म की ओर अग्रसर हुआ।

यह जीवन कर्मों द्वारा निर्मित है। जीवन और जीवन की परिस्थितियाँ कर्मों का ही परिणाम हैं, ऐसा हमारे शास्त्र कहते हैं। अगर आज सुख है, तो वह हमारे पूर्वकर्मों का परिणाम है। अगर आज अशांति, क्लेश या दुःख है, तो वह भी हमारे पूर्वकर्मों का परिणाम है। जन्म से लेकर मृत्यु तक हम कर्म करते हैं, लेकिन कर्म कभी सधता नहीं है। बल्कि कर्म हमें और उलझा देता है। ऐसा क्यों होता है?

गीता में श्रीकृष्ण कहते हैं कि तुम्हारा कर्म ईश्वरार्पित नहीं होता, इसलिए तुम कर्मों में उलझते हो। इस तरह श्रीकृष्ण ने कर्मों में भी ईश्वर को जोड़ा है। अर्जुन पूछता है कि हमारी भावना बाहर संसार में भागती है, विषयासक्त हो जाती है। ऐसा क्यों होता है? कृष्ण जी उत्तर देते हैं, 'इसलिए कि तुमने कभी अपनी भावनाओं को व्यवस्थित नहीं किया है। पहले भावनाओं को व्यवस्थित करना सीखो।' अर्जुन पूछता है कि माया में आदमी मोहित होकर अपने कर्त्तव्य को भूल जाता है। ऐसा क्यों होता है? कृष्ण जी कहते हैं, 'तुम भौतिकता को ही अपना सर्वस्व मानते हो, इसलिए मोह में पड़ते हो। अगर तुम परमार्थ को अपने जीवन का आधार मानोगे, तो मोह के नकारात्मक परिणामों से मुक्त रहोगे।'

इस प्रकार अर्जुन ने गीता में जो भी व्यावहारिक प्रश्न किये हैं, कृष्ण जी ने उन सभी का यही उत्तर दिया है कि तुम जीवन में जैसा भी कर्म करो, उसमें केवल यही भाव रखो कि तुम्हारे द्वारा किया गया यह कर्म एक यज्ञ है। यज्ञ से क्या होता है? सबका मंगल, सबका शुभ होता है। तुम्हारे कर्मों से सबका शुभ और मंगल होना चाहिए। गीता में जब श्रीकृष्ण कहते हैं कि सभी का शुभ और मंगल होना चाहिए, तब वे आपके भीतर छिपी हुई सात्त्विक प्रतिभा की ओर ध्यान आकृष्ट कर रहे हैं।

जब आपकी सात्त्विक प्रतिभा जाग्रत होगी, जब आपका हृदय कोमल बनेगा, जब आप में संवेदनशीलता आएगी, तब जो बात कृष्ण जी कह रहे हैं, हम उसे समझ पायेंगे और उस अनुसार जी पायेंगे। जब ईश्वर उपदेश देते हैं, तब उनका प्रयोजन रहता है कि मनुष्य अपने जीवन में पूर्णता को प्राप्त करे। यही श्रीकृष्ण का संदेश भी है कि तुम सब कुछ करो, पर अनासक्त होकर करो, कर्त्तव्य भाव से करो, पूरी निष्ठा और तन्मयता के साथ करो। यह मानकर चलो कि तुम जो कर रहे हो, वह यज्ञ है, जिसे सभी का हित, मंगल और कल्याण होगा, धर्म की स्थापना होगी।

इस प्रकार की जो सजगता तुम्हें अपने कर्मों और आचरण के प्रति सजग बनाती है, वह आध्यात्मिकता है, जिसके पनपने पर तुम संसाराभिमुख न होकर ईश्वराभिमुख हो जाओगे। एक बार तुम ईश्वराभिमुख हो जाते हो, तब तुम्हारा जीवन परमार्थ के लिए समर्पित हो जाता है। यह गीता का संदेश है।



साधु और गृहस्थ के जीवन में अंतर

संसार में हर व्यक्ति को, चाहे वह गृहस्थ हो या त्यागी, उसे बाहर की परिस्थितियों का सामना करना पड़ता है, संघर्ष करना पड़ता है और अपने आपको सम्भालकर चलना पड़ता है। यह हमलोगों की वास्तविक परिस्थिति हुई। चाहे गृहस्थ हो या साधु, दोनों के लिए परिस्थिति समान है। तब फिर दोनों के जीवन में कौन-सी चीज का अंतर है? दोनों के जीवन में केवल एक ही वस्तु का अंतर रहता है – सकामता और निष्कामता। स्वार्थ की भावना और नि:स्वार्थ की भावना। गृहस्थ संग्रहकर्त्ता होता है जबकि त्यागी दानकर्त्ता। गृहस्थ को बटोरना अच्छा लगता है, क्योंकि बटोरने से सम्पन्नता का आभास होता है, भले ही वह मिथ्या आभास हो। साधु संग्रहवृत्ति का त्याग कर चुका है। उसका देने का स्वभाव होता है। अगर बटोरता भी है, तो देने के लिए ही बटोरता है।

परिस्थितियाँ एक जैसी हैं, केवल मानसिकता और दृष्टिकोण अलग हो जाता है। एक की मानसिकता भोगवृत्ति द्वारा प्रभावित और निर्देशित होती है, दूसरे की योगवृत्ति द्वारा। जब गृहस्थ में भोगवृत्ति प्रबल होती है, तब वह संसारी कहलाता है। जब गृहस्थ में ही योगवृत्ति प्रबल होती है, तब वह सद्गृहस्थ या साधु पुरुष कहलाता है। जिस साधु में भोग की वृत्ति प्रबल हो गई, वह ढोंगी कहलाता है। जिस साधु में योग की वृत्ति प्रबल हो गई, वह संत कहलाता है।

यहाँ पर वृत्ति की बात हो रही है, क्योंकि एक वृत्ति हमें संसार से जोड़ती है तो दूसरी मुक्त करती है। भोगवृत्ति बंधन की वृत्ति है, जो हमें संसार में फँसा

देती है, आसक्त कर देती है और हम जिन्दगी भर 'मैं और मेरा' रटते रहते हैं। योग की वृत्ति जीवन में आध्यात्मिकता को लाती है। आध्यात्मिकता के आने से मनुष्य ईश्वराभिमुख होता है और अपने जीवन में ईश्वर के अस्तित्व को *'सत्यम्-शिवम्-सुन्दरम्'* के रूप में जानने लगता है। आध्यात्मिक वृत्ति का प्रयोजन जीवन में शांति और शक्ति प्रदान करना है, अपने आराध्य के साथ एक अटूट संबंध को स्थापित करना है।

गृहस्थ के लिये भी शांति, शक्ति और संबंध उतने ही आवश्यक हैं, जितने एक साधु के लिए। हम सब शांति, शक्ति और संबंध को स्थापित करने के लिए काम करते हैं। हर व्यक्ति चाहता है कि उसके घर में शांति, सुख, आराम और सुविधा रहे। हर व्यक्ति चाहता है कि उसमें अपने सभी दायित्वों का निर्वाह करने और अपने आपको समाज में प्रतिष्ठित करने का सामर्थ्य, शक्ति, प्रतिभा और कार्यक्षमता हो। हर व्यक्ति एक संबंध को स्थापित करना चाहता है, जिसके द्वारा उसकी पहचान बढ़े। लेकिन साधु का दृष्टिकोण इन तीन चीजों को संसार से जोड़ने के बजाय ईश्वर से जोड़ने का होता है। वह ईश्वर से संबंध जोड़ता है, ईश्वर से शक्ति प्राप्त करता है और शांति उसे ईश्वर के समीप ले जाती है।

प्रक्रिया मात्र इतनी ही है। पदार्थमय जीवन से आध्यात्मिकता की ओर ले जाने वाला जो सेतु है, उस पर हर व्यक्ति को चलना पड़ेगा, उसके पार जाना होगा। इसी को साधना कहते हैं। सेतु के एक किनारे से दूसरे किनारे पर पहुँचने के लिये हमें कितने कदम चलने पड़ेंगे, उसका अंदाज तो आपको अपनी चाल को देखकर लगाना पड़ेगा। लेकिन जब हम भौतिकता से आध्यात्मिकता के इस मार्ग पर चलने लगते हैं, तब हमें सबसे पहले योग का सहारा लेना पड़ता है। योग का असर जीवन के तीन स्तरों – शरीर, मन और आत्मा पर पड़ता है।

योग साधना का प्रयोजन

जब लोग किसी प्रयोजनवश योग की साधना करने आते हैं, चाहे वे किसी बीमारी से मुक्त होना चाहते हैं या तनाव से या मानसिक अवसाद से, उस समय वे यह नहीं सोचते कि मैं किसी प्रकार के आध्यात्मिक मार्ग में आगे बढ़ूँ। वे तो मात्र इतना ही चाहते हैं कि उनकी तकलीफ दूर हो जाए। वे पंद्रह दिन या महीने भर के लिए आते हैं। इस अवधि में जब उन्हें आसन, प्राणायाम,

शिथिलीकरण और एकाग्रता के अभ्यास करवाये जाते हैं, तब उन्हें निश्चित रूप से स्वास्थ्य लाभ होता है, क्योंकि योग का असर शारीरिक स्तर पर भी हो रहा है। आसन से रोग दूर हो जाते हैं, किसी-किसी को सौ प्रतिशत फायदा भी होता है। योग का असर मानसिक स्तर पर भी होता है। शिथिलीकरण और एकाग्रता की विधियों द्वारा मानसिक चिन्ता, परेशानी, तनाव, व्यथा, अव्यवस्था और विक्षिप्तता, जो रोग के कारण बनते हैं, इन अवस्थाओं से भी आप अपने को मुक्त कर स्वस्थ हो सकते हैं। जैसे-जैसे मन की चंचलता शांत हो जाती है और शरीर स्वास्थ्य को प्राप्त करता है, मन की ऊर्जा बढ़ती है।

योग-शास्त्र में बताया गया है कि शरीर में प्राण-शक्ति और मन में चित्त-शक्ति रहती है। प्राण-शक्ति स्थूल है और चित्त-शक्ति सूक्ष्म। जिस प्रकार हम बिजली से एक बहुत बड़ी मशीन भी चला सकते हैं और बहुत ही संवेदनशील कम्प्यूटर भी, उसी प्रकार जो ऊर्जा हम लोगों के भीतर है, यह प्राण रूप में स्थूल शरीर का संचालन करती है और चित्त शक्ति के रूप में सूक्ष्म मन का। योगाभ्यास द्वारा इन दोनों में संतुलन आता है, जिससे शारीरिक रोग तथा मानसिक तनाव दूर होते हैं। मन में शांति आती है, शरीर में स्वास्थ्य आता है और आपको आनन्द, सुख, तृप्ति एवं पूर्णता की अनुभूति होती है। फिर आप अपने जीवन के प्रति अधिक सजग हो जाते हैं और आपके द्वारा जो कुछ भी होता है, वह अपने स्वास्थ्य और शांति के लिए होता है।

योग से आध्यात्मिकता की शुरुआत अपने आप होती है। अगर तुम किसी बंजर भूमि में फूलों का बगीचा लगाना चाहते हो, तो तुम्हें सिर्फ जमीन को तैयार करना है और बीज बोना है। समय आने पर तुम्हें प्रयास नहीं करना है कि फूलों में सुगन्ध और रंग आए। वह तो अपने आप प्रकट होगा। तुम्हें केवल बीज रोपने और उसका ख्याल करने का काम करना है। इसी प्रकार योग में भी तुम्हें निश्चिंत होकर केवल आसन, प्राणायाम, योग निद्रा, ध्यान आदि का अभ्यास करना है। इन अभ्यासों के परिणाम से स्वत: शारीरिक स्वास्थ्य, मानसिक शांति और आत्मिक सुख की प्राप्ति होगी। यही आध्यात्मिक चेतना की शुरुआत है।

आध्यात्मिक चेतना की जागृति से मनुष्य अपने जीवन में शुद्ध, सकारात्मक और रचनात्मक अवस्था को लाता है। ऐसा होने पर संगीतज्ञ और भी अच्छा संगीत रचने लगता है। गणितज्ञ और भी मेधावी हो जाता है, साधु और भी अच्छा हो जाता है, कर्मचारी और भी प्रवीण हो जाता है। व्यवहार-कुशलता



आती है, कर्म-कुशलता आती है। यह आंतरिक शान्ति और तनावमुक्ति का परिणाम है। अपने जीवन में आध्यात्मिकता का पनपना शारीरिक स्वास्थ्य और मानसिक शान्ति का समन्वय है। इतना होने के बाद हमें यह प्रयास करना है कि हमारे जीवन में नव-संस्कार आयें।

बच्चों में आध्यात्मिक नींव का निर्माण

हमारे गुरु स्वामी सत्यानंद जी हमेशा कहते थे कि अगर हमें अपने घर, परिवार, समाज, राष्ट्र और विश्व को सुधारना है, और केवल सुधारना ही नहीं बल्कि सम्भालना है, तो बच्चों को अच्छे संस्कार देने चाहिए। बड़े लोग तो एक आकार को प्राप्त कर चुके हैं, उनके स्वभाव और स्वरूप की आकृति बन चुकी है। अब कितना भी छेनी-हथौड़ा चला लो, पत्थर से आकृति तो निकल चुकी है। अगर उस पर जबरदस्ती छेनी-हथौड़ा चलायेंगे, तो टूट जायेगी। लेकिन छोटे बच्चों की आकृति का निर्माण अभी होना है और यह निर्माण संस्कारों के द्वारा होता है। इसलिए बच्चों को अगर हम संस्कारों से युक्त कर सकें तो एक-दो पीढ़ी के भीतर हम अपने समाज में एक सुन्दर, सौम्य वातावरण का निर्माण कर पायेंगे।

गुरुजी हमेशा बच्चों के रख-रखाव पर ध्यान देते थे, चाहे वह मुंगेर हो या रिखिया। मुंगेर में बाल योग मित्र मण्डल के ये लाल वस्त्र वाले बच्चे तो

आपके ही हैं। जब कभी इन्हें अवसर मिलता है, जब आप इन्हें अनुमति देते हो तब आश्रम आकर योगाभ्यास और बहुत सारी अन्य चीजें सीखते हैं और अपनी जिम्मेदारी पूरी निष्ठा के साथ निभाते हैं। ये जो कुछ कर रहे हैं इससे इन्हें संस्कार मिल रहा है। जो संस्कार इन्हें अभी मिल रहा है, वही बाद में इनके जीवन में एक सुन्दर, सुदृढ़ मानसिकता का निर्माण करेगा। इनमें आत्मविश्वास और प्रतिभा की कमी नहीं होगी और निश्चित रूप से भविष्य में ये उज्ज्वल नागरिकों के रूप में अपना योगदान देंगे।

हम सबका कर्त्तव्य बनता है कि हम अपने बच्चों को अच्छा संस्कार दें। पर इसमें कोई जोर-जबरदस्ती नहीं होनी चाहिए। मेरे पास लोग अपने बच्चों को लेकर आते हैं और बच्चों से कहते हैं कि स्वामीजी को प्रणाम करो। बच्चा हमारी ओर देखते रहता है, तो माँ बच्चे की गर्दन पकड़कर मेरे पैर के पास मारती है। क्या यह संस्कार देना कहलायेगा कि जबरदस्ती किसी की गर्दन पकड़कर प्रणाम करवाओ! जब बच्चा देखेगा कि प्रणाम करने के लिए मेरा गला दबाया जाता है, तो वह कभी प्रणाम नहीं करेगा।

बच्चों को अवसर देना चाहिए कि उनके भीतर का रंग और खुशबू अपने आप प्रकट हो। योगाश्रम में इनको वह अवसर दिया जाता है, और ये सब अड़हुल के लाल-लाल फूलों जैसे चमकते हैं। इनका रंग भी दिखलाई देता है और इनकी सुगंध भी लोगों को प्राप्त होती है।

परिवार में अध्यात्म का बीजारोपण

माताओं के लिए निर्देश – बच्चों को संस्कार देना एक काम है, और माताओं द्वारा अपने घर में एक व्यवस्था का निर्माण करना दूसरा काम। अपने बच्चों को संस्कारित करने के लिए ये हमारे गुरुजी के निर्देश हैं। सबसे बड़ी भूमिका माताओं को निभानी पड़ती है, क्योंकि माताएँ हमारी संस्कृति की राजदूत हैं। समाज को सुधारने की, परिवार में खुशहाली लाने की, और अपनी संस्कृति को बचाने की सबसे बड़ी जिम्मेदारी माताओं पर होती है। गुरु तो केवल एक विचार प्रस्तुत कर सकता है, आपको प्रेरित कर सकता है। नये संस्कार देने का काम माता को घर में करना पड़ता है। इसके लिए घर में एक व्यवस्था होनी चाहिए।

हमारे गुरुजी कहते थे कि सप्ताह में एक दिन, चाहे वह शनिवार हो या सोमवार या छुट्टी का दिन, परिवार के सभी लोगों को बुलाकर अपने घर

में सुख, शांति और स्वास्थ्य का संकल्प लेकर महामृत्युंजय मंत्र का जप करना चाहिए –

ॐ त्र्यम्बकं यजामहे सुगंधिं पुष्टिवर्धनम्।
उर्वारुकमिव बंधनात् मृत्योर्मुक्षीय मामृतात्॥

घर के सभी लोग इस मंत्र का एक माला जप साथ बैठकर करें। आधे घण्टे का यह अनुशासन आप अपने घर में लागू कर सकते हैं। निश्चित रूप से परिवार के चिन्तन और संकल्पशक्ति में सकारात्मक परिवर्तन आएगा।

महीने में एक बार पूर्णिमा के दिन घर में सुन्दरकाण्ड का पाठ करें। चाहे अपने मित्रों को बुला लें, चाहे किसी के घर चले जाएँ, लेकिन पूर्णिमा के दिन सुन्दरकाण्ड का पाठ जरूर करना चाहिए। हजारों वर्षों से लोगों का अनुभव रहा है कि सुन्दरकाण्ड का पाठ करने से कष्ट-दु:ख दूर हो जाते हैं। हमारे गुरुजी के शब्द हैं कि अपने जीवन से दु:ख और दरिद्रता के नाश का संकल्प लेकर अगर सुन्दरकाण्ड का पाठ करोगे, तो तुम्हें श्रीराम का आशीर्वाद जरूर मिलेगा।

हमारे गुरुजी मुंगेर छोड़ने के बाद जब रिखिया में एकान्तवास और पंचाग्नि साधना कर रहे थे, तब उन्होंने एक दिन एक बात कही थी। 'मैंने बहुत ग्रन्थ पढ़े हैं, बहुत ज्ञान का अर्जन किया है और शायद भगवान के बारे में, मनुष्यता





के बारे में, धर्म के बारे में बहुत जान सका हूँ, लेकिन मन को कभी तृप्ति नहीं मिली। हमेशा लगता था कि कुछ कमी है। लेकिन जब मैंने रामचरितमानस का पाठ सही रूप में आरम्भ किया, तो मुझे आभास हो गया कि मुझे और कुछ पढ़ने या जानने की आवश्यकता नहीं है। जीवन का, ईश्वर का पूरा सार इस सरल और अनुपम ग्रन्थ में दिया गया है।'

जब गुरुजी यह बात कह रहे थे तब हमें यह बात समझ में नहीं आई थी। रामायण पढ़े हैं बहुत बार, पाठ किया है बहुत बार, अखण्ड पाठ में भी बैठे हैं। लेकिन गुरुजी की इस गूढ़ बात को समझ नहीं पाए। इस साल जब पंचाग्नि में बैठे थे, तब उस समय पंचाग्नि साधना के अन्तर्गत श्री रामचरितमानस का पाठ भी शामिल था। पंचाग्नि साधना के दौरान हमने तीन नवाह्न पारायण पूरे किये। मतलब 27 दिन।

जब प्रथम पारायण कर रहे थे, तब मन की जो स्थिति थी, वह कथा को ग्रहण कर रही थी। दूसरी बार जब रामचरितमानस का पारायण किया तो हमने देखा कि हमारे मन की अवस्था बदल गई है। पहले जो कागज के कोरे पन्ने पर छपे काले शब्द मात्र थे, अब वे उस रूप में नहीं दिखलाई दे रहे थे। बल्कि लगता था जैसे वे शब्द, वे दोहे, वे छन्द, वे श्लोक रत्न-जड़ित अक्षरों से लिखे गये हैं, और वे चमक रहे हैं। हर पन्ना मानो रत्नों का भण्डार

था। और तीसरी बार जब उसका पाठ किया, तो चेतना की स्थिति और भी सूक्ष्म हो गई थी।

हम आपको श्री रामचरितमानस का अपना अनुभव बता रहे हैं, जो इस वर्ष हुआ है, क्योंकि हमने तो हमेशा अपने आपको एक साधक के रूप में, एक प्रयोगशाला के रूप में देखा है, और यह जानने का प्रयास किया है कि किस प्रकार एक विधि से, एक साधना से, मनुष्य के जीवन और चेतना में परिवर्तन आता है। इसी क्रम में हम आपको यह बात बता रहे हैं कि जब तीसरा परायण हो रहा था, तो चेतना इतनी सूक्ष्म हो गई कि रामायण में साबर मंत्र दिखलाई देने लगे। यह विधि जारी रहती तो हो सकता है बहुत चीजों का आभास होता, अनुभव होता, अंदाज होता, ज्ञान होता।

मैं आपको यह बात इसलिए बतला रहा हूँ कि श्रीराम चाहे जो भी रहे हों, बालक या राजा या मर्यादा पुरुषोत्तम या अवतारी पुरुष, आप जिस रूप में भी उन्हें देखना चाहें देख सकते हैं, लेकिन रामचरितमानस एक ऐसा अनुपम ग्रन्थ है, जिसमें राम के चरित्र को आधार बनाकर आध्यात्मिकता के चिंतनों को कूट-कूट कर भरा गया है। अध्यात्म के साधनों को वहाँ पर छिपाकर लिखा गया है, मंत्रों के रूप में। जैसे-जैसे मनुष्य इस पाठ से अपने आपको जोड़ता है, वैसे-वैसे इन मंत्रों का असर उसकी चेतना पर पड़ता है, और ये मंत्र उसकी चेतना के नए आयामों को जगाकर उसे मुक्ति की ओर ले जाते हैं।

जो हमें अनुभव हुआ, वही आपके लिए भी संभव है। शर्त केवल एक ही है कि आप भी वही करो जो हम कर रहे थे। तब आपको भी वही अनुभव होगा जो हमें हो रहा है। इसलिए रामचरितमानस को मात्र कहानी या इतिहास के ग्रन्थ के रूप में कभी मत लेना। निश्चित रूप से यह घटना घटी है, यह हमारा इतिहास है, इसमें दो मत नहीं। लेकिन इसके पाठ से जो उपलब्धि होती है, जो तृप्ति मिलती है, जो सुख मिलता है, जो शान्ति मिलती है, वह दुनिया के और किसी किताब में, ग्रन्थ में, साहित्य में, शास्त्र में, दर्शन में कहीं नहीं मिलती। और मुझे विश्वास है कि ऐसा आपका भी अनुभव रहा है।

तो परिवार के लिए पहला कार्यक्रम बताया, सप्ताह में एक दिन महामृत्युंजय मंत्र का पाठ। दूसरा कार्यक्रम, महीने में एक बार पूर्णिमा के दिन सुन्दरकाण्ड का पाठ। अब तीसरी चीज जो करनी चाहिए। एक दिन माताओं को घर में हड़ताल कर देनी चाहिए। सबको उपवास करना पड़ेगा। शारीरिक स्वास्थ्य के लिये यह बहुत फायदेमंद है। एक उदाहरण देता हूँ। शौचालय के

फ्लश को दिन में चार बार चलाओ, चार बार पानी निकलेगा। दिन में पचास बार जाकर उसे दबाते रहो तो पचास बार पानी निकलेगा। तुम उसका जितना कम उपयोग करोगे, उतनी उसकी जीवन आयु बढ़ेगी और वह तुम्हारा साथ देगा। जितना ज्यादा खटाओगे, उतना ज्यादा खराब होगा।

पेट का भी यही सिद्धांत है। घर में सबको हमेशा कुछ-न-कुछ खाने की आदत होती है, मुँह हमेशा चलते ही रहता है। अगर खाने में नहीं चलता तो बकवास में चलता है। जितना मुँह चलेगा उतना पेट खराब होगा। चाहे तुम एक थाली भरपेट भोजन करो या मूँगफली का एक दाना खाओ, पचाने का जो रसायन है, हमेशा उतनी ही मात्रा में निकलता है। जिसका मुँह दिनभर चलता है, उसे कभी पेट में जलन, कभी वायु, कभी कुछ और तकलीफ होते रहती है। भूखे पेट आदमी कम मरता है, भरे पेट ज्यादा।

इसलिए अगर सप्ताह में एक दिन खाना नहीं बनाओगे, और फलाहार करके अपना काम चला लोगे, तो स्वास्थ्य के लिए लाभदायक होगा। एक-दो महीने के बाद घर में आदत पड़ जाने पर फिर कोई शिकायत भी नहीं करेगा कि मेरे को भूख लगी है। अगर हर सप्ताह करना कठिन लगता है, तो महीने में एक बार पर्याप्त है। किसी एकादशी के दिन कर लेना। इससे आप जिह्वा पर, स्वाद पर, लालच पर, लोभ पर अनुशासन कर सकते हो।

बच्चों के लिए निर्देश – बच्चों को प्रतिदिन तीन काम करने चाहिए – सूर्य नमस्कार, नाड़ीशोधन प्राणायाम और गायत्री मंत्र का अभ्यास। बच्चों के जीवन में ये तीन अभ्यास एक अनुशासन के रूप में होने चाहिए। जैसे सबेरे उठकर हम नहा-धोकर नाश्ता करते हैं, वैसे ही सबेरे उठकर सूर्य नमस्कार का अभ्यास होना चाहिए। इससे बच्चों की शारीरिक ऊर्जा को व्यवस्थित करने में सहायता मिलेगी। साथ ही नाड़ीशोधन प्राणायाम की कम-से-कम पाँच आवृत्तियाँ करनी चाहिए। इससे बच्चों की प्रतिभा, स्मृति और मस्तिष्क तीव्र होगा। और गायत्री मंत्र के जप से वे विद्या के, गुणों के धनी बनेंगे।

पुरुषों के लिए निर्देश – घर में पिता लोगों की मुख्य समस्या उच्च-रक्तचाप है, जिसका कारण चिन्ता और तनाव है। जब आप रात को बिस्तर में सोने जाते हैं तब एक काम करना है। बिस्तर पर सीधा लेट जाना है और सोने के पहले दो मिनट अपने पूरे शरीर का ख्याल करके अपने पूरे शरीर को बिस्तर में ढीला छोड़ देना है। बिस्तर में ढीला छोड़ने के पश्चात् दिन में बीती घटनाओं को याद करना है। सबेरे हम इतने बजे उठे, उठकर ऐसा



किया, ऐसे कपड़े पहने, ऐसा नाश्ता किया, ऐसी बात की, इतने बजे घर से निकले, इसके साथ मिले, उसके साथ गये – सबेरे से लेकर शाम तक जो भी घटनाएँ घटी हैं, उन्हें अपने मन में देखो। किससे क्या बात हुई, कैसी बात हुई, किससे प्रेमपूर्ण व्यवहार हुआ, किससे लड़ाई-झगड़ा हुआ, क्या अच्छा लगा, क्या बुरा लगा। दिन भर की घटनाओं और परिस्थितियों को देखने के बाद फिर जब देखते हो कि अब मैं अपने बिस्तर पर आकर लेट गया हूँ और यह अभ्यास कर रहा हूँ, तब उस समय अपने श्वास का ख्याल करना और अपनी नाभि को श्वास के साथ ऊपर उठते और नीचे जाते देखना। फिर पचास से एक तक श्वास को उल्टा गिनना और उसके बाद सो जाना।

यह सरल-सा प्रतीत होने वाला तरीका बहुत ही शक्तिशाली अभ्यास है, जिसमें हम अपने शरीर और मन को तनावमुक्त कर पाते हैं और विश्राम की स्थिति को लाकर चैन की नींद सो सकते हैं। हमारे जीवन में उच्च-रक्तचाप का कारण चिन्ता, परेशानी, तनाव और दबाव ही है। अगर हम इन्हें दूर कर सकें, तो हमारा मन भी शांत और स्थिर हो जाएगा। एक सप्ताह अजमा करके देखिए, पसंद नहीं आएगा, छोड़ देना और फायदा होता है तो करते जाना।

ये तीन कार्यक्रम तनावमुक्ति के लिए, घर में एक सुन्दर वातावरण की स्थापना के लिए और बच्चों की प्रतिभा के विकास के लिए हैं। योग के माध्यम से जीवन में स्वास्थ्य और शान्ति प्रदान करना, प्रतिभा का विकास करना, लोगों में संस्कार लाना और अपने भौतिक जीवन में एक व्यवस्थित और जाग्रत आध्यात्मिक जीवन जी पाना – योगाश्रम यही कार्य पिछले पचास वर्षों से कर रहा है। धीरे-धीरे जैसे-जैसे मन अध्यात्म की ओर प्रवृत्त होता है, वैसे-वैसे साधना बदलती है, चिन्तन बदलता है, व्यवस्था बदलती है, परिवेश बदलता है। कोई साधु बनता है, कोई सद्गृहस्थ, लेकिन जीवन का जो सत्य है, मूल आधार है, वह अपने जीवन में संस्कार एवं संस्कृति को लाना है। संस्कार और संस्कृति से ही आध्यात्मिकता पनपती है।

ईश्वर प्राप्ति का रहस्य

अपराह्नकालीन सत्र, 8 मार्च 2013

इस वर्ष हमलोग मुंगेर स्थित योगाश्रम की स्वर्ण जयन्ती मना रहे हैं। इस योगाश्रम की भूमिका और योगदान आध्यात्मिक चेतना के उत्थान हेतु योग विद्या का प्रचार रहा है। लेकिन मुंगेर में योग और अध्यात्म की नींव योगाश्रम के पूर्व पड़ी है। योगाश्रम का जो संकल्प है, उसे बेशक पचास साल पहले हमारे गुरुजी ने एक साकार स्वरूप दिया, लेकिन उसका बीजारोपण हुआ था सन् 1937 में।

25 जनवरी, सन् 1937 को हमारे परम गुरु, स्वामी शिवानन्द जी मुंगेर आए थे और यहाँ पर एक सप्ताह का प्रवास किया था। 25 से 30 जनवरी के बीच, नगर के अनेकों स्थानों और विशेषकर टाउनहॉल के मैदान में उनका अखण्ड संकीर्तन और सत्संग हुआ था। जब हम उनके पुराने साहित्य को देखते हैं, जिसमें मुंगेर में उनके सत्संग और अखण्ड संकीर्तन की चर्चा है, तो उसमें साधना और भक्ति के बारे में एक वाक्य दिखलाई देता है, जो उन्होंने मुंगेर की जनता के लिये कहा था। यही वाक्य सन् 1937 के पचीस साल बाद, सन् 1963 में श्री स्वामीजी द्वारा योगाश्रम की स्थापना होने पर साकार हुआ।

स्वामी शिवानन्द जी ने कहा था, 'जीवन का उद्देश्य ईश्वर भक्ति है। ईश्वर भक्ति से शान्ति मिलती है। शान्ति को प्राप्त करने के लिए, शान्ति के बीज को अपने जीवन में कायम रखने के लिए आवश्यक है कि इस बीज को जंगली जानवरों से बचाया जाए। ऐसे जंगली जानवर जो लोभ, कामुकता, मूर्खता, ढिठाई, सनक, चिड़चिड़ापन आदि का रूप लेकर हमारे मन को

विचलित कर देते हैं। इसलिए अपने मन को संभालो, अपने मन की रक्षा करो, अपने आपको शुद्ध बनाओ, चिंतन करो, ध्यान करो और अन्त में अपने जीवन में ईश्वर के साथ एकता का अनुभव करो।'

मुंगेर में स्वामी शिवानन्द जी के चरण पड़ने के बाद उनकी शिक्षाओं की आधारशिला यहाँ तैयार हो गई। इसी आधारशिला पर सन् 1963 में श्री स्वामीजी ने योगाश्रम का निर्माण किया। उस समय उन्होंने कहा था कि जब तक भारत के लोग योग को अपनाकर जीवन जीया करते थे, हमारे समाज में खुशहाली, समृद्धि और शान्ति थी। जब से भारत के लोगों ने योगाभ्यास करना छोड़ा है, तब से अशान्ति फैली है, दु:ख-दरिद्रता आई है। इसलिए इस योगाश्रम का उद्देश्य योग के ज्ञान का प्रचार करना और राष्ट्र के सांस्कृतिक उत्थान में अपना सहयोग देना है।

योग का लक्ष्य

इसी भावना से प्रेरित होकर श्री स्वामीजी ने योगाश्रम की स्थापना की थी। लोग उनसे पूछा करते थे कि आप जो आसन, प्राणायाम और ध्यान सिखाते हो, इससे क्या मिलेगा? उन्होंने कहा था कि मनुष्य मन की पात्रता बढ़ेगी और मनुष्य का मन शुद्ध होगा।

मुझे याद है, जब यहाँ धर्मशाला में सन् 1965 में अन्तर्राष्ट्रीय योग सम्मेलन हुआ था, तब पुरी के शंकराचार्य आए थे और उन्होंने श्री स्वामीजी से एक प्रश्न किया था, 'तुम योगाभ्यास सिखाते हो और अपने चेलों को कर्मयोग की शिक्षा देते हो। क्या तुम्हारे विचार से योग और कर्मयोग से मोक्ष संभव हो पाएगा?'

श्री स्वामीजी ने शंकराचार्य को उत्तर दिया था, 'भगवन्, आप हमारी परम्परा के आचार्य हैं, हमसे श्रेष्ठ हैं, किन्तु मेरा मत और विश्वास है कि जब मनुष्य के जीवन में योगाभ्यास के द्वारा शान्ति आएगी, तब वह शान्ति ही उस मनुष्य को ईश्वराभिमुख बनाएगी।' जब तक मन अशान्त रहता है, मनुष्य ईश्वर की ओर नहीं देखता, बल्कि अपनी अशान्ति को दूर करने का प्रयास करता है। भले ही वह ईश्वर को अपना सहारा बना ले, लेकिन ईश्वर चिंतन नहीं हो पाता है। ईश्वर से दु:ख-निवृत्ति की प्रार्थना होती है, लेकिन ईश्वर चिंतन, ईश्वर भक्ति नहीं हो पाती। एक बार जब मन शान्त हो जाएगा, तब मन स्वत: उस भक्ति में रम जाएगा, ओत-प्रोत हो जाएगा।



जहाँ तक कर्मयोग का प्रश्न उठता है, कर्मयोग वास्तव में सेवा है। जब मनुष्य कर्म को कर्मयोग की भावना से करता है, तब उसे अपने मन से डरना नहीं होता। नहीं तो मनुष्य सफलता और असफलता के बारे में सोचकर भयभीत हो जाता है। जब बिना किसी अपेक्षा के, केवल एक कर्त्तव्य के रूप में, निष्ठा, प्रेम और सम्मान के साथ कर्म किया जाए, तब उस समय अपने मन को रोकने की कोई आवश्यकता नहीं। मन भागता है, भागने दो, केवल परोपकार का भाव रखो। जब तक तुम्हारे मन में यह भाव है, तुम्हारा मन एक अच्छे कार्य की पूर्णता की ओर अग्रसर होगा। उसमें उसे सुख मिलेगा, शांति मिलेगी, तृप्ति होगी।

इसीलिए गुरुजी कहते थे कि जब आदमी सेवा करता है, तब उसे बहुत अच्छा लगता है। उसका मन हल्का हो जाता है कि मैंने सेवा की। अगर आप किसी की सेवा सच्चे दिल से करोगे, तो आपको बहुत अच्छा लगेगा, बहुत प्रसन्नता होगी। खुशी होगी कि मैंने सेवा की है, मैं अपनी स्वार्थ वृत्ति से कुछ क्षणों के लिए बाहर आकर दूसरे के जीवन में सुख लाया हूँ। सेवा की प्रसन्नता मन की सभी वृत्तियों को शान्त करने में सक्षम है। कर्मयोग का यही प्रयोजन है।

इस प्रकार जो उत्तर श्री स्वामीजी ने पुरी के शंकराचार्य को दिया था और जिस उत्तर में उनके विचारों का निचोड़ दिखलाई दे रहा है, उसी कार्य को योगाश्रम ने आगे बढ़ाया है। पिछले पचास वर्षों में योग का जो व्यापक

प्रचार हुआ है, उसका प्रभाव स्पष्ट दिखलाई देता है। दुनियाभर के लोग यहाँ से योग सीखकर जाते हैं। भले ही योगाश्रम का प्रत्यक्ष कार्य योग का है, लेकिन अप्रत्यक्ष कार्य अपनी संस्कृति का प्रचार करना और लोगों के जीवन में संस्कारों को देना रहा है। यही इसका असली कार्य रहा है। योग तो केवल माध्यम बना है।

योग का उद्देश्य मोक्ष नहीं है, बल्कि जीवन में प्रवीणता को हासिल करके सफलता को प्राप्त करना है। यह योग का उद्देश्य है। गीता में योग की एक व्याख्या है – *'योग: कर्मसु कौशलम्'*, जिससे स्पष्ट होता है कि योग एक साधना ही नहीं, बल्कि जागृति की एक अवस्था भी है। भौतिक स्तर पर योग कर्मों में कुशलता है, रचनात्मकता कर्मों की सकारात्मक अभिव्यक्ति है। *'योग: कर्मसु कौशलम्'* योग की बाह्य अभिव्यक्ति है, जिससे हम अपने जीवन, परिवार, समाज और राष्ट्र का निर्माण कर सकते हैं, उनका उत्थान कर सकते हैं। चाहे वह स्वास्थ्य हो, शान्ति हो, तनाव-मुक्ति हो या और कुछ भी हो, वह कर्मों की कुशलता से सम्भव होता है। यह एक बिन्दु है।

दूसरा बिन्दु है, *'समत्वं योग उच्यते।'* मन की विचलित अवस्थाओं को संतुलित करके जीवन में समभाव को धारण करो। समभाव किसमें आना है? असली समभाव तो द्वैत में आना है, क्योंकि जब तुम अपने मन की द्वैत अवस्था को संभाल लोगे, तब फिर जीवन का सुख और दु:ख तुम्हें विचलित नहीं करेगा। इसलिए द्वैत अवस्था में समत्व की प्राप्ति करनी है। समत्व से मन शान्त होता है, स्थिर होता है, एकाग्र होता है और शुद्धि को प्राप्त करता है।

तीसरा बिन्दु ब्राह्मी वृत्ति की जागृति है। मन कभी खाली नहीं रहता। मन में हमेशा कुछ-न-कुछ चिंतन, विचार और भावनाएँ उमड़ते रहते हैं, जो हमें संसार से, विषयों से, तनाव, चिंता, परेशानी, अपेक्षा, कामना और वासना से जोड़ते हैं। लेकिन अगर मन में शान्त वृत्ति का उदय हो तो उसे ब्राह्मी वृत्ति कहा जाता है, क्योंकि शान्त अवस्था में ही मन का विकास होता है। ब्रह्म शब्द का अर्थ विकसित चेतना है। ब्रह्म शब्द को भले ही हम लोग ईश्वर से जोड़कर कहते हैं कि यह ईश्वर का संबोधक है, परमात्मा का परिचायक है, लेकिन संस्कृत में ब्रह्म शब्द 'बृंह्' धातु से बना है, जिसका तात्पर्य उस चेतना से है जिसका निरन्तर विकास हो रहा है। ब्रह्म या परमात्मा वह है, जो कभी एक अवस्था में नहीं रहते, बल्कि जिनका विकास हमेशा होते रहता है, जिनकी व्यापकता हमेशा बढ़ती रहती है।

जब हम अपने आप को इस ब्राह्मी वृत्ति के संदर्भ में देखते हैं, जोड़ते हैं, तब इसका मतलब होता है, मन को तमोगुण के बंधनों से मुक्त करके सत्त्व में स्थापित करना। तमोगुण की वृत्ति सांसारिक वृत्ति है और सत्त्वगुण की वृत्ति ब्राह्मी वृत्ति। इसका संकेत श्रीकृष्ण ने गीता में भी दिया है।

ईश्वर प्राप्ति का साधन

गीता में कृष्ण जी अर्जुन को बार-बार कहते हैं कि अपने आपको मुझे समर्पित कर दो। अर्जुन कहता है, 'भगवन्, आप बार-बार कहते हैं कि समर्पित कर दो। मैं क्या चीज अर्पित करूँ?' भगवान कहते हैं, '*मय्येव मन आधत्स्व*, अपना मन मुझमें समर्पित कर दो।' अर्जुन कहता है, 'बहुत कठिन है। मन को आज तक मैं स्थिर नहीं कर पाया हूँ। मन हमेशा दुर्योधन के बारे में सोचता रहा है, दुःशासन के बारे में सोचता रहा है, अपने दुःखों के बारे में सोचता रहा है। और अब युद्ध-भूमि में खड़ा हूँ, तो मन उसी चीज को याद कर रहा है। मैं अपने मन को स्थिर कर पाऊँ, संभव नहीं है। कोई दूसरा उपाय?'

भगवान कहते हैं, '*मयि बुद्धिं निवेशय*। अगर मन को स्थिर नहीं कर पाते, तो कम-से-कम अपनी बुद्धि से तो सोच सकते हो कि मैं सब चीजें ईश्वर को अर्पित कर रहा हूँ। बुद्धि को ही अर्पित कर दो। बुद्धि से ही सोच लो। अगर पूरी भावना से अर्पण नहीं कर सकते हो तो बुद्धि से अर्पण का ढोंग तो कर सकते हो। तुम्हें ख्याल तो हो जाएगा कि 'मैं हूँ'। एक बार 'मैं हूँ' का ख्याल हो जाएगा, तो बार-बार तुम्हारी बुद्धि मेरी ओर आकृष्ट होगी।'

अर्जुन कहता है, 'भगवन्, अगर मेरी बुद्धि ठीक रहती, तो मैं आपसे यह प्रश्न क्यों करता? आप कहते हो कि बुद्धि को मुझ में लगा दो। लेकिन मेरी बुद्धि तो गड़बड़ाई हुई है। अगर बुद्धि ठीक रहती तो मैं विषाद में नहीं जाता, अपने कर्त्तव्य को नहीं भूलता। इस गड़बड़ाई बुद्धि को मैं कैसे लगा सकता हूँ? कोई और तरीका बताइए।'

तब भगवान कहते हैं, '*मामेकं शरणं व्रज*। ठीक है, मन नहीं लगाओ, बुद्धि नहीं लगाओ, तुम केवल मेरे साथ रहो।' मेरे साथ रहने का क्या मतलब है? विश्वास। ऐसा दृढ़ विश्वास जिससे हम भगवान के साथ हमेशा रह सकें, बिना मन को लगाए, बिना बुद्धि को लगाए। एक कहानी से यह बात स्पष्ट हो जाएगी।

दृढ़ विश्वास का दृष्टान्त

किसी जमाने में एक गाँव में एक गरीब माता रहती थी। उसका एक छोटा-सा आठ साल का बेटा था। बेटे की भरती स्कूल में हो गई, जो गाँव से दस किलोमीटर दूर था। उस लड़के को रोज पगडण्डी से जाना पड़ता था और वह पगडण्डी जंगल से, पहाड़ से, नदी से गुजरती थी। यह लड़का अकेले ही दस किलोमीटर सबेरे जाता, शाम को आता। कभी-कभी जंगली जानवरों की चिंघाड़ सुनाई पड़ती तो बेचारा डर जाता।

एक दिन वह डरा हुआ घर आता है और कहता है, 'माँ मैं स्कूल नहीं जाऊँगा।' माँ पूछती है, 'क्यों?' वह कहता है, 'अकेले जाने में मुझे बहुत डर लगता है। रास्ता बहुत खतरनाक है और कोई साथी नहीं है जो मेरे साथ जाए। इस गाँव से मैं ही अकेला जा रहा हूँ।'

माँ कहती है, 'बेटा, तू अपने भैया को क्यों नहीं बुला लेता?'

लड़का पूछता है, 'क्या मेरा कोई भाई भी है?'

'हाँ बेटा, तेरा भैया है।'

'लेकिन मैंने आज तक भैया को कैसे नहीं देखा?'

माँ कहती है, 'तेरा भैया बहुत काम करता है। वह दिन-भर गउएँ चराता रहता है। इसीलिए घर में नहीं आता। जंगल में ही गउओं के साथ रहता है। जब तुम अगली बार जंगल से गुजरोगे तो अपने भैया को बुलाना। अगर वह तुम्हारी आवाज को सुन लेगा, तो तुमको रोज ले जाएगा और ले आएगा।'

यह जानकर कि मेरा कोई भाई है, वह छोटा-सा लड़का बहुत खुश हो गया। दूसरे दिन सबेरे बहुत प्रसन्नता के साथ, वह दौड़ते-दौड़ते स्कूल के लिए निकला। जैसे ही वह जंगल के किनारे पहुँचा, उसने जोर से आवाज लगाई, 'भैया, कहाँ हो? आओ, मैं अकेला हूँ, मुझे डर लग रहा है।' कुछ नहीं हुआ, कोई नहीं आया। बेचारा रोते हुए घर वापस आ गया और माँ से कहा, 'मैया, भैया तो दिखलाई नहीं दिए। मैंने तो कई बार बुलाया, लेकिन वे नहीं आए। भैया का क्या नाम है? हो सकता है वहाँ पर अनेकों भैया हों।' तब माँ ने उसे सान्त्वना देते हुए कहा, 'तुम्हारे भाई का नाम गोपाल है।'

दूसरे दिन सबेरे वह सरल-हृदय लड़का फिर से जंगल की ओर जाता है और वहाँ खड़े होकर पुकारता है, 'भैया गोपाल, कहाँ हो? मुझे अकेले डर लग रहा है।' इस तरह बार-बार पुकारकर वह रोने लगता है, 'तुम अब तक क्यों नहीं आए!'

जब वह रो रहा था, तब उसे अचानक दूर से संगीत की मधुर आवाज सुनाई दी, जैसे कोई बंशी बजा रहा है। वह आवाज धीरे-धीरे नजदीक आती गई। अंत में उसने देखा कि बारह-तेरह साल का एक सुन्दर लड़का, अपने कंधे पर पीताम्बरी अंगवस्त्र डाले, बंशी बजाते चले आ रहा है। पास आकर वह कहता है, 'मैं ही तुम्हारा भाई गोपाल हूँ। बोलो, क्या चाहिए?'

लड़के ने पूछा, 'भैया, तुम अब तक कहाँ थे?' गोपाल कहते हैं, 'बहुत काम रहते हैं न। गउएँ चराता हूँ, गउएँ दूर-दूर भाग जाती हैं, तो उन्हें खोजने जाना पड़ता है। इसलिए मैं तुमसे मिल नहीं पाता हूँ। लेकिन अब आ गया हूँ, चलो मेरे साथ स्कूल चलो।' दोनों साथ-साथ स्कूल गए, वापस आए। रोज का यह क्रम हो गया।

एक दिन स्कूल में वार्षिकोत्सव हो रहा था तो मुख्याध्यापक ने सभी विद्यार्थियों से कहा कि इस उत्सव के लिए हर कोई अपने-अपने घर से दूध लेकर आना। यहाँ विद्यालय में खीर बनाएँगे और सबको देंगे। सभी बच्चों ने अपने-अपने घर से दूध लाने का निश्चय किया। कोई एक गिलास भरकर, कोई एक लोटा भरकर, तो कोई एक बाल्टी भरकर लाने की बात करने लगा।

यह छोटा बालक अपने घर पहुँचकर माँ से कहता है, 'मैया, मेरे को थोड़ा दूध चाहिए।' माँ कहती है, 'बेटा, घर में तो एक बूँद भी दूध नहीं, तू अपने भाई गोपाल से क्यों नहीं माँग लेता?' लड़के ने कहा, 'मैया, आपका कहना सही है। भैया गाय चराते हैं, उनके पास तो बहुत दूध होगा, मैं उन्हीं से जाकर माँगूँगा।'



दूसरे दिन वह गोपाल से कहता है, 'गोपाल भैया, आज स्कूल में प्रिंसिपल साहब ने दूध मँगाया है और हमारे घर में तो एक बूँद भी दूध नहीं है, थोड़ा-सा दूध हमें दे दो।'

गोपाल एक छोटी-सी चाय पीने वाली मिट्टी की डिबड़ी में थोड़ा-सा दूध देकर कहते हैं, 'दूध तो मैंने पूरा बाँट दिया है, इतना ही बचा था, यह तू ले जा।'

वह लड़का दूध की उस छोटी-सी डिबड़ी को मास्टरजी के पास लाकर कहता है कि प्रिंसिपल साहब, मैं यह दूध लाया हूँ। प्रिंसिपल उस डिबड़ी को देखते हैं और फिर उस ओर देखते हैं जहाँ पर दूध से लबालब बड़े-बड़े गिलास, बड़े-बड़े लोटे, बड़ी-बड़ी बाल्टियाँ रखी हैं। उन्हें क्रोध आ गया। 'इतने से दूध से क्या होगा?' यह कहते हुए उन्होंने हाथ मारा। लड़के के हाथ से वह पात्र छूटकर जमीन पर गिर गया।

जैसे ही जमीन पर दूध गिरा, चमत्कार हुआ। उस छोटे-से पात्र से दूध की जो धार बहने लगी उसके अन्त होने का नाम ही नहीं। जब प्रिंसिपल ने देखा कि यहाँ तो दूध की नदी बह रही है तो उन्हें भी लगा कि जरूर इसमें कुछ राज है। उन्होंने लड़के से पूछा, 'तुम्हें यह दूध किसने दिया था?' लड़के ने कहा, 'मेरे भाई गोपाल ने।'

मास्टर जी का माथा ठनका। उन्होंने कहा, 'मुझे तुम्हारे भाई से मिलना है। मिलाओगे?' लड़का कहता है, 'आप मेरे साथ जंगल चलिये। मैं भैया को बुलाऊँगा, वे जरूर आयेंगे। आप उनसे मिल लेना। हो सकता है कि वे कुछ और दूध आपको दे दें।' वह छोटा-सा आठ साल का बालक मास्टर जी को लेकर जंगल की ओर चल पड़ता है। जब बीच जंगल में पहुँचता है, तब वहाँ रुककर पुकारता है, 'भैया गोपाल, तुमसे मिलने के लिए कोई आया है।'

लेकिन भैया गोपाल कहाँ आने वाले थे! उनका भी एक विचित्र स्वभाव है कि जब तुम्हारे साथ दूसरा है, तो मेरा क्या काम! मैं तो तब आता हूँ, जब तेरा कोई न रहे। उन्होंने इसका उदाहरण भी प्रस्तुत किया है। कौरव सभा में जब तक द्रौपदी सहायता के लिए अन्य लोगों को बुला रही थी, कृष्ण जी चुपचाप बैठे रहे और जब सभी से निराश होकर द्रौपदी ने हार मानकर अन्त में कृष्ण जी को याद किया, तब कृष्ण जी तत्काल वहाँ पर आ गए। उनका एक ही सिद्धान्त है कि अगर तुम्हारे साथ कोई और है तो मेरा वहाँ कोई काम नहीं।

जंगल में मास्टर जी खड़े हैं, बालक बुलाए जा रहा है पर गोपाल तो आ नहीं रहे हैं। मास्टर जी बड़े व्यग्र हो रहे हैं। उन्होंने कहा, 'कहाँ है तुम्हारा भाई? अभी तक आया क्यों नहीं? तुम झूठ बोलते हो।' बालक को और भी चोट पहुँची। वह जोर से रोने लगा, 'भैया, कोई मेरी बात पर विश्वास नहीं करता। आओ न, मास्टर जी तुमसे मिलने आए हैं।'

जब वह ऐसा बोल रहा था तब उसे संगीत की ध्वनि सुनाई दी। उसने देखा कि एक पेड़ की ओट से कान्हा बाहर निकलकर आ रहे हैं। छोटा

लड़का बहुत खुश हो गया। उसने कहा, 'भैया आ गए! मास्टर जी, मेरे भैया को देखिए!'

मास्टर जी को तो कुछ नहीं दिखाई दिया। उन्होंने कहा, 'तेरे भैया कहाँ है?' लड़का कहता है, 'यहाँ सामने तो खड़े हैं। देखिए न, कितना मधुर, सुन्दर स्वरूप है उनका। सिर पर पगड़ी बाँधे हुए हैं, ऊपर मयूर पंख लगा है। कंधे पर पीताम्बरी अंगवस्त्र पड़ा है, हाथ में बाँसुरी है, मनमोहक मुस्कान है, साँवला रंग है।' इस तरह बालक अपने भाई का वर्णन किये जा रहा है और मास्टर जी कहे जा रहे हैं कि मुझे कुछ नहीं दिख रहा!

बालक रोते हुए कहता है, 'भैया, तुम्हें मास्टर जी क्यों नहीं देख सकते?'

गोपाल कहते हैं, 'तुम्हारे मास्टर जी मुझे इसलिए नहीं देख सकते, क्योंकि वे अपने मन और बुद्धि से मुझे देखना चाहते हैं, अपने हृदय से नहीं।'

बालक कहता है कि भगवन्, अगर वे हृदय से नहीं देख पा रहे हैं, तो भी उन्हें एक बार दर्शन दे दीजिए, ताकि उन्हें मालूम पड़ जाए कि मैं झूठ नहीं बोल रहा हूँ। गोपाल कहते हैं, 'मैं दर्शन तो नहीं दूँगा, लेकिन अपनी बाँसुरी एक बार बजा देता हूँ। एक बार वे बाँसुरी की आवाज सुन लेंगे, तो उन्हें विश्वास हो जाएगा कि मैं यहाँ पर हूँ।' ऐसा कहकर उन्होंने अपनी बंशी बजाई। प्रिंसिपल साहब ने उस मधुर ध्वनि को सुना और वे तो मदहोश हो गए। उस अद्वितीय मधुर ध्वनि को सुनकर कौन पागल नहीं होगा?

भगवान ने जो तीसरी बात कही है, वह यही है कि तुम अगर मुझे हृदय से बुलाओगे, तो मैं हमेशा वहाँ पर तुम्हारे साथ उपस्थित रहूँगा। इसलिए जब भगवान को बुलाना हो, तो अपने मन से नहीं, अपनी बुद्धि से नहीं, हृदय से बुलाना। अगर मन लगा सकते हो तो बहुत अच्छा है, पर मन केवल योगी ही लगा पाता है। योगी बन जाओगे तो मन लग जाएगा। अगर बुद्धि लगा सकते हो तो भी बहुत अच्छा है, पर बुद्धि केवल गृहस्थ ही लगाता है। बुद्धि का उपयोग लेन-देन के लिए होता है। गृहस्थ भगवान से कहता है कि आप मेरा यह काम कर दो तो मैं आपको अच्छा भोजन, मिठाई, पकवान खिला दूँगा। लेकिन भक्त का न मन होता है, न बुद्धि। उसमें तो केवल हृदय का भाव होता है। जो हृदय से ईश्वर को पुकारता है, ईश्वर की आराधना करता है, ईश्वर हमेशा उसके साथ रहते हैं और केवल वही उस ईश्वर को देख सकता है, दूसरा कोई नहीं।

भगवान ने ये तीन तरीके बतलाये हैं – *मय्येव मन आधत्स्व* – मन मुझमें लगा दो। यदि यह नहीं हो सकता, तो *मयि बुद्धिं निवेशय* – बुद्धि मुझमें

अर्पित कर दो। अगर वह भी नहीं हो सकता तो दिल का दरवाजा खोलकर मुझे बुला लो। अब दिल का दरवाजा कैसे खोलें, वह पूछने की हिम्मत अर्जुन की नहीं होती। लेकिन उसका समाधान भगवान अपनी शिक्षाओं में हमेशा कर देते हैं। वे कहते हैं कि एक ही काम करो। यह जान लो कि तुम जिस संसार में रहते हो, वह माया है, और यह जान लो कि तुम्हारे भीतर जो आत्मा है, वह मेरी छाया है। मेरी छाया को अपने भीतर देखो। संसार में, माया में बेशक रहो, लेकिन अपने भीतर देखो। जो इतना कर लेता है, वह अपने जीवन में ईश्वर को प्राप्त करता है, धर्म के सभी उद्देश्यों और लक्ष्यों को प्राप्त करता है। उसी के जीवन में अध्यात्म जाग्रत होता है और वही सच्चा मनुष्य कहलाता है। यही हम लोगों के भारतीय चिंतन के अनुसार सच्चा अध्यात्म है।



संस्मरण

एक आध्यात्मिक यात्रा की ओर

हाल में ही हम मुंगेरवासी अपने परमप्रिय श्री स्वामी निरंजनानन्द सरस्वती के साथ एक आध्यात्मिक यात्रा पर निकले। 5 मार्च, 2013 को श्री बैद्यनाथेश्वर शंकरबाग जंक्शन से दिन के 11 बजे हमारी यात्रा शुरू हुई। यूँ तो इस परिसर के बगल से दिनभर ट्रेनों का आवागमन होता रहता है, परन्तु हम जिज्ञासुओं के लिए एक विशेष ट्रेन की व्यवस्था की गई थी – *आध्यात्मिक एक्सप्रेस* – जिस पर हम सवार हुए। गुरुकृपास्वरूप सर्वजनहिताय नि:शुल्क टिकट की व्यवस्था थी। इस टिकट के लिए धन की नहीं वरन् पात्रता की आवश्यकता थी। जिज्ञासावश हमने गुरुजी से पूछ लिया कि यह आध्यात्मिकता कौन-सी जगह है, किस दिशा में है और हमें किन-किन स्टेशनों से होकर गुजरना पड़ेगा। हमने प्रयाग, हरिद्वार, ऋषिकेश और पुरी जैसे कई धार्मिक स्थलों की यात्रा तो की है, किन्तु आध्यात्मिक स्थल की ओर तो कभी जाना नहीं हुआ।

स्वामीजी ने तब समझाया कि यह कोई धार्मिक यात्रा नहीं है, वरन् यह अंतर्मन की यात्रा है। हमें अपने मन के अंतरतम कोष्ठों से गुजरते हुए परमसत्य का साक्षात्कार करना है। ईश्वर हर प्राणी के हृदय में ही अवस्थित है। वह तो हमारी साँसों से भी निकट है। उनको पाने के लिए बाहर भटकने की जरूरत नहीं। हमें अपने मन को साधना होगा। रास्ते में अनेक पड़ाव आएँगे। पहाड़, निर्जन वन और खाइयाँ भी मिलेंगी किन्तु दृढ़ निश्चय एवं अटल विश्वास के बल पर हम सारी बाधाओं को दूर कर पायेंगे। तब हम आध्यात्मिक जगत् में प्रवेश कर सत्यम्-शिवम्-सुन्दरम् के परम लक्ष्य को प्राप्त कर सकेंगे।

हमने भी यात्रा का मन बना लिया और अपने सामान की व्यवस्था करने लगे। काम, क्रोध, लोभ, मोह और मात्सर्य जैसे द्वैतभावों की गठरी बाँध ली



और इस पर तमोगुण का लेबल लगा दिया। अहंकार की अटैची में राग-द्वेष, कामुकता, हीनभावना, रुग्णता, अतिसंवेदनशीलता जैसे विभिन्न प्रकार के वस्त्रों को सुव्यवस्थित कर लिया। कंधे पर अभिमान का झोला लटकाकर हम तैयार हो गये।

हमारे स्वामीजी तो सर्वज्ञाता हैं। हमारे झोले, अटैची और गठरी में रखे सामान से वे भली-भाँति परिचित हैं। उन्होंने हमें समझाया कि इन सांसारिक वस्तुओं से तुम्हारी आध्यात्मिक यात्रा में अवरोध उत्पन्न होगा। हमें घबड़ाहट महसूस होने लगी, ये सब तो हमारे दैनिक उपयोग की वस्तुएँ हैं। इनके बिना हम कैसे रह पाएँगे। हर विपरीत परिस्थिति में हमें क्रोध की आवश्यकता पड़ती है। अहंकार से हम अपनी प्रतिष्ठा पर मुहर लगाते हैं। स्वामीजी मोह-त्याग की बात कर रहे हैं, जबकि यात्रा में हमें अपने घर-परिवार की याद आएगी। त्याग एवं दान करने से हम निर्धन हो जाएँगे और लोभ छोड़ देने पर हमारी महत्त्वाकांक्षाएँ खत्म हो जाएँगी।

हम उधेड़-बुन में थे। क्या रखें और क्या छोड़ें? गुरुजी ने निर्देश दिया, द्वैतभाव को छोड़ दो और अद्वैत को अपने साथ रखो। तभी तुम्हारी यात्रा सफल होगी। मार्गदर्शन स्वयं गुरुदेव का था, सो हमने भी हिम्मत कर ली और शुद्धि, एकाग्रता, चिन्तन, ध्यान, आत्मबोध, सारूप्य, सायुज्य, निर्वाण जैसे अद्वैत के साधनों को सहेजना शुरू किया। आत्मबलिदान, आत्मसमर्पण,



आत्मनिग्रह के गुणों को इकठ्ठा किया। इधर द्वैतभाव की सन्तानें – माया, मोह, अहंकार व लोभ हमें बार-बार धमका रहे थे कि हमारे बिना तुम इस संसार में जी नहीं पाओगे। गुरुजी का ही सम्बल था, सो हमने उनकी अनदेखी कर दी। गाड़ी ने सीटी दे दी और हम चल पड़े।

यात्रा के क्रम में भजन, कीर्तन, सत्संग और मंत्रोच्चार की साधनाओं के हॉल्ट थे। अखण्ड गीतापाठ और रामचरितमानस पाठ के जंक्शन भी आए। सारे मुसाफिर नाचते-गाते-झूमते गन्तव्य की ओर बढ़ रहे थे। और-तो-और इस आध्यात्मिक ट्रेन के टी.टी. काले नहीं वरन् लाल वस्त्रधारी थे। वे किसी भी प्रकार की घूस लिए बिना हमें उचित स्थान पर बैठा रहे थे। रास्ते में हमें प्रयाग में चल रहे महाकुंभ की एक झलक देखने का सौभाग्य भी प्राप्त हो गया। वहाँ भी गृहस्थ एवं संन्यासी अपने-अपने ढंग से अध्यात्म की खोज में लगे थे।

तो इस यात्रा के क्रम में अपने गुरुजी के अनमोल वचनों का श्रवण कर हमने जो कुछ सीखा-समझा, उसका सार यही था कि चौरासी लाख योनियों में मनुष्य ही सर्वश्रेष्ठ प्राणी है और इस श्रेष्ठ जीवन का उद्देश्य परम सत्य का साक्षात्कार करना है। इसके लिए हमें धर्म से अध्यात्म की ओर जाना होगा। धर्म तो मात्र एक व्यवस्था, मान्यता एवं आस्था है, जो समाज को ऊर्जा प्रदान करती है। अध्यात्म का अर्थ पवित्रता, शुद्धता एवं निर्मलता से



जुड़कर परमतत्त्व को प्राप्त करना है। आध्यात्मिकता एक ऐसी यात्रा है जो मन को तमोगुण से सतोगुण की ओर ले जाती है। द्वैत की समाप्ति ही अध्यात्म की आधारशीला है। आध्यात्मिकता पनपने पर हम संसाराभिमुख न रहकर ईश्वराभिमुख हो जाते हैं। योग द्वारा इस साधना को शारीरिक, मानसिक एवं आत्मिक स्तर पर पूर्ण किया जाता है। तभी हम आधिदैविक, आधिभौतिक एवं आध्यात्मिक – तीनों प्रकार के दु:खों पर विजय प्राप्त कर सकते हैं।

संसार में संन्यासी और गृहस्थ दोनों ही आध्यात्मिकता को अपने-अपने ढंग से प्राप्त करना चाहते हैं। संसारी दु:खों से निवृत्ति चाहता है और संन्यासी, मोक्ष की प्राप्ति। मंजिल एक ही है, एक इसे भोग में खोजता है तो दूसरा योग में। मूल अन्तर सकामता और निष्कामता का है। अगर गृहस्थ में योग की प्रवृत्ति प्रबल हो उठती है तो वह सद्गृहस्थ कहलाता है। संन्यासी में भोगवृत्ति के प्रबल होने पर वह पाखण्डी और ढोंगी कहलाता है। मनुष्य में अहंकार का क्षय आत्म-बलिदान, आत्म-समर्पण और आत्म-निग्रह, इन तीन चीजों से होता है। इस साधना से सौम्य, सात्त्विक गुणों की प्राप्ति होती है और इन गुणों की अभिव्यक्ति एक निर्भीक, निरंजन, विवेकी, सदाचारी, निष्कपट, निष्ठावान्, सत्यपरायण, धैर्यशील, सहनशील, आज्ञाकारी और विनम्र व्यक्तित्व के रूप में होती है। इस उच्च अवस्था पर पहुँचकर अध्यात्म का राही अपमान एवं तिरस्कार को भी सहजरूप में स्वीकार कर पाता है। सीमित मन से असीम को नहीं जाना जा सकता। इसके लिए मनुष्य को अपनी शारीरिक, मानसिक एवं भावनात्मक ऊर्जाओं पर विजय प्राप्त करनी होती है, तब जाकर मनुष्य का जीवन पूर्णता को प्राप्त करता है।

सारे प्रसंग आध्यात्मिकता के धागे में ही पिरोये हुए थे। सेवा, प्रेम और त्याग के बल पर मनुष्य पवित्र और निर्मल हो उठता है एवं ईश्वर सदैव उसके हृदय में विराजमान रहते हैं। परमगुरु शिवानन्द एवं सत्यानन्द की

शिक्षाओं का सार भी यही है। उन्होंने अद्वैत को आत्मभाव के रूप में बताकर शास्त्रों की प्रासंगिकता सिद्ध की है। पचास वर्षों से गंगादर्शन गुरुकुल इन्हीं शिक्षाओं का प्रसार करते हुए स्वर्ण जयन्ती वर्ष में प्रवेश कर चुका है। आध्यात्मिकता का प्रसार ही इस संस्था का मिशन है। यहाँ हमें कर्म को यज्ञ की तरह करने की प्रेरणा मिलती है। आखिर कार्य कुशलता ही तो योग है। गंगादर्शन की शिक्षाओं में माताओं और बच्चों को विशेष महत्त्व देने की बात कही जाती है।

स्वामीजी ने हमें कुछ दैनिक, साप्ताहिक एवं मासिक साधनाओं के बारे में भी बताया, जिनमें सप्ताह के किसी एक दिन महामृत्यंजय मंत्र की 108 आवृत्तियाँ, प्रत्येक महीने की पूर्णिमा को सुन्दरकाण्ड का पाठ, महीने में एक दिन का उपवास आदि शामिल हैं। बच्चों के दैनिक कार्यक्रम के अन्तर्गत सूर्य नमस्कार, नाड़ी शोधन और गायत्री मंत्र के जाप को श्रेयस्कर बताया। इन महत्त्वपूर्ण बिन्दुओं को हमने अपनी डायरी में नोट कर लिया और संकल्प लिया कि यात्रा से लौटने के पश्चात् अवश्य ही इन पर अमल करेंगे।

इस प्रकार चार दिनों की आध्यात्मिक यात्रा में स्वामीजी ने हमें सारे जरूरी निर्देश दे दिये और फिर स्वयं अंतर्धान हो गये। आगे की यात्रा अब हमें स्वयं ही पूरी करनी है। हम अद्वैत की ओर बढ़ना चाह रहे हैं, परन्तु द्वैत बार-बार हमें अपनी ओर खींचने की कोशिश कर रहा है। गुरु की कृपा और शिष्य के दृढ़ विश्वास के बल पर ही हम रास्ते में आनेवाली कठिनाइयों पर विजय प्राप्त कर सकेंगे। गुरु के नेतृत्व में अध्यात्म की राह पर एक कदम ही सही, हमने बढ़ाया तो है। हमें अनायास ही कबीर के एक दोहे की स्मृति हो आई –

गुरु गोविन्द दोनों खड़े, काके लागूँ पाय।
बलिहारी गुरु आपनो, जिन गोविन्द दियो बताय॥

शिष्य को सही राह दिखलाना, यही तो पेशा है एक संत, संन्यासी और गुरु का। हमारे समाज में डॉक्टर, वकील, शिक्षक जैसे अनेक पेशेवर हैं। हर एक का अपना एक पेशा और उसकी फीस है। साधुओं का पेशा समाज को सुव्यवस्थित कर अध्यात्म का विकास करना है। इस पेशे में धोखाधड़ी, लूट, खसोट कुछ भी नहीं है। एक सच्चे संत की फीस तो सिर्फ दो रोटी और दो धोती ही है।

–मधु-शिव रूँगटा, मुंगेर

आध्यात्मिकता की आत्मानुभूति

त्वमीश्वरो गुणातीतो ज्योतिरूप: सनातन:।
नानारूपविधाता त्वं भक्तानां ध्यानहेतवे॥

कहते हैं कि जब-जब मानवता पर संकट के बादल छाते हैं, भगवान किसी-न-किसी रूप में वहाँ अपने भक्तों के सहायतार्थ प्रकट हो जाते हैं। और जो साक्षात् ब्रह्म-स्वरूप में विराजमान हों, उनकी स्तुति भला कैसे? अगर हम अपनी श्रद्धा के सुमन श्री गुरु चरणन में अर्पित कर पायें तो यह भी उन्हीं की कृपा से संभव है।

पंचाग्नि साधना के पश्चात् स्वामी निरंजनानन्द सरस्वती जी का यह पहला सत्संग सार्वजनिक रूप में था। पिछले एक माह के घटना-क्रमों ने निश्चित रूप से चिंतन करने को बाध्य कर दिया है कि यह मात्र संयोग था या भविष्य की किसी योजना का सूत्रधार, जिसमें स्वामीजी के विराट् स्वरूप का दर्शन उन्हीं के जीवन के विभिन्न आयामों में होता गया और आने वाले समय की झलक भी दिखला गया –

* हनुमान चालीसा पाठ, श्रीविद्या पूजा	–	आराधना स्वरूप
* पंचाग्नि साधना	–	साधना स्वरूप
* अम्मा जी का महाप्रयाण	–	गुरु-भक्ति की पराकाष्ठा
* अम्मा जी की भू-समाधि	–	समर्पण एवं धैर्य
* बाल-योग-दिवस	–	विश्व प्रणेता के रूप में
* बिहार योग विद्यालय स्वर्ण-जयन्ती	–	सामाजिक उत्थान में ज्योतिस्वरूप
* अध्यात्म पर सत्संग	–	प्राणी मात्र के कल्याण की बूटी

पंचाग्नि साधना के पश्चात् स्वामीजी का अद्भुत स्वरूप दृष्टिगोचर हुआ, मानो श्री स्वामी सत्यानन्द जी का बाल-स्वरूप उन्हीं में समाहित होकर साकार हो उठा हो। वे सरलता, विनम्रता और निर्मलता की प्रतिमूर्ति प्रतीत हो रहे थे। अभी तक जो स्वरूप हमने देखा, उसमें तेजोदीप्तानन का अपूर्व ओजमय आभास होता आया, किन्तु इस बार की साधना ने तो एक कोमल, नवजात शिशु को हमारे मन-मन्दिर में प्रतिष्ठित कर दिया। बच्चों-सी कोमलता, मधुर मुस्कान एवं सहज स्वरूप, यह नन्हें कान्हा का ही तो है, जो हमारे समक्ष नित-नये रहस्य के पट खोल रहे हैं। न जाने क्यों उन्हें देख-देख कर मन ममत्व के एहसास से आह्लादित हो उठ रहा है। आँखें निर्निमेष उन्हीं



पर टिकी हुई हैं, कहीं से एक झलक दिख जाए। स्वामीजी ने बिल्कुल सही कहा है – मातृत्व-बोध। कभी-कभी तो ऐसा प्रतीत हो रहा है कि अम्माजी का भौतिक शरीर उस विराट् चेतना में समाहित होकर निरंतर मातृत्व की शक्ति को लुटा रहा है, मानो 'ममता की यह लूट है, जो जित चाहे लूट ले'। इसके पूर्व कभी ऐसा एहसास नही हुआ। हाँ! छोटे भाई के रूप में हमेशा चाहा, किन्तु भावना में आमूल परिवर्तन? यह तो अम्माजी की ही कृपा है हम सब पर, और कुछ शेष नहीं।

इस सत्संग में जिस शब्द पर प्रकाश डाला गया, वह था 'आध्यात्मिकता'। जैसे सागर अथवा व्योम एक शब्द मात्र है, किन्तु इसके गर्भ में न जाने कितने रत्नों, चाँद-सितारों, आकाश-गंगाओं की शृंखला छिपी हुई है, ठीक उसी प्रकार इस शब्द में भी आराधना, भक्ति, त्याग, प्रेम, वात्सल्य, परोपकार, कर्त्तव्य और न जाने कितने सत्त्व गुणों का भण्डार छिपा है, जिन्हें एक साथ मंथन कर अमृत-स्वरूपा जिस स्वाती की बूँद की रचना की गयी, वह अपरिमेय है, अलौकिक है। बस पात्रता की कसौटी है कि वह बूँद सीप में गिरा, चातक के मुँह में गिरा, केले में गिरा या फिर समुद्र से मिलकर एकाकार हो गया।

सत्संग की भूमिका थी, कुम्भ के मेले में अथाह जनसमुदाय के मध्य एक शिष्य (स्वामी सूर्यप्रकाश) द्वारा अपने परम पूजनीय गुरुजी (स्वामी निरंजनानन्द सरस्वती) से किया गया प्रश्न कि आध्यात्मिकता क्या है। ऐसा प्रतीत होता है मानो प्रश्न अर्जुन रूपी जीव ने किया और इसकी गूढ़ता का रहस्योद्घाटन स्वामीजी ने श्री वैद्यनाथेश्वर, शंकरबाग, मुंगेर में श्री कृष्ण के विराट् रूप में किया। उपलक्ष्य भी महत्त्वपूर्ण (महाशिवरात्रि का) और स्थान भी अलौकिक, आध्यात्मिक ऊर्जा से आच्छादित।

अध्यात्म ऐसा विषय नहीं जिसे किसी स्कूल या कॉलेज में जाकर पढ़ा जा सके। यह तो मात्र अनुभूति एवं चेतना का ऊर्ध्वमुखी विकास है, जिसे सारी



दु:ख-पीड़ा सहते हुए अपने हृदय पटल पर स्वयं गोंदना पड़ता है। इसकी गूढ़ता को सरल-से-सरल भाषा में समझाने की ललक स्वामीजी की आँखों में दृष्टिगोचर हो रही थी। उन्होंने बड़ी सहजता से हमारे हृदय में वही कुछ प्रत्यारोपित किया, जो उन्होंने पिछले माह जीया। न ग्रंथों की बातें, न कही-सुनी। बस स्वयं के अनुभव की।

प्रकृति तमोगुणी है, जो संसार के रूप में प्रकट होती है। यही द्वैत का सृजन करती है, और यहीं से माया का साम्राज्य शुरू हो जाता है। जैसे ही हम अपने जीवन में सद्गुणों को लाने का प्रयास शुरू करते हैं, मन धीरे-धीरे ईश्वराभिमुख होने लगता है। अद्वैत की यह पहली सीढ़ी हमें परमात्मा तक पहुँचाने का मार्ग प्रशस्त करती जाती है। स्वामीजी ने बतलाया कि अध्यात्म स्वानुभूति है। यह एक ऐसी यात्रा है जो हमें तमोगुण से सतोगुण की ओर ले जाती है। कामनाओं और विषय-वासनाओं से हमें विमुख करके शान्ति, संतुष्टि एवं आनन्द की अनुभूति कराती है।

अध्यात्म का आधार है अद्वैत की अनुभूति। श्री स्वामी सत्यानन्द जी ने इसे आत्मभाव के रूप में बतलाया, दूसरों में अपने स्वरूप को देखना, जो कठिन तो है परन्तु असम्भव नहीं। प्रेम, श्रद्धा और विश्वास इस मार्ग के साधन हैं। आत्मभाव की यह भंग जिसकी जिह्वा में एक बार लग जाए, उसकी तो हरेक दिन होली और हरेक रात दीपावली है। आवश्यकता है सूक्ष्म से विराट् बनने की, बूँद से सागर बनने की।

संसारी हो अथवा त्यागी, वह अपने जीवन में बस एक ही चीज की खोज करता है और वह है दु:ख से निवृति, आनन्द की प्राप्ति। क्योंकि आत्मा का स्वरूप ही वही है – सत्-चित्-आनन्द। कोई कितने वैभव के बीच रहे या कोई कितनी भी गरीबी में रहे, वह कस्तूरी मृग के समान भटक रहा है। अपने शरीर में विद्यमान कस्तूरी को नहीं जान पाता है और पाने को व्याकुल रहता है। प्राणी को भी बस एक उसी की खोज है और वह है, आत्मा में शान्ति का अनुभव – सत्यम्-शिवम्-सुन्दरम्। इसे पवित्रता, शुद्धता और निर्मलता से प्राप्त किया जा सकता है। हमारे ऋषि-मुनियों के चिंतन का भी यही विषय रहा है कि किस प्रकार प्राणी तामसिकता से विमुख होकर सत्त्व की ओर अग्रसर हो। मार्ग प्रशस्त करने का कार्य हमारे गुरुजनों ने हमेशा से किया है, परोपकार की घुट्टी पिला-पिला कर। जो कर्म दूसरों के हित के लिए किया जाए वह परोपकार ही तो है। यह आनन्ददायक है, अध्यात्म की नींव है, और यही

आत्मा का स्वरूप भी है। इसकी झलक यदा-कदा हमें अपने दैनिक जीवन में मिलती ही रहती है। आखिर वह कौन-सी शक्ति है जो किसी गिरते हुए को देखकर बचाने आगे बढ़ जाती है, किसी गरीब भिखमंगे को देखकर झट पॉकेट से दो सिक्के निकाल बैठती है, मंदिर में श्रद्धा से सिर झुका देती है, भले ही वह क्षणिक क्यों न हो, आध्यात्मिकता ही तो है। यह उन सारे गुणों को उद्घाटित करती है, जो हमारी शुद्ध आन्तरिक प्रवृत्ति है, और इन सबसे हमें आनन्द की ही अनुभूति होती है।

स्वामीजी ने इतनी सरलता से हमें अपने निज स्वरूप की पहचान कराई कि मन आनन्द सागर में हिलोरें लेता रहा– *'आत्मस्वरूपहिं देव चिन्हाई, महानन्द उमगा तब आई'*। जैसे आज से पचास वर्ष पूर्व श्री स्वामी सत्यानन्द जी ने योग को भविष्य की संस्कृति बनने का उद्घोष किया था, उसी प्रकार स्वामी निरंजनानन्द जी ने भी एक दृढ़ संकल्प के साथ आने वाले समय को अध्यात्म का युग बतलाया है, और उसी का शंखनाद इस सत्संग में फूँका गया। साथ-ही-साथ समाज को चेतावनी भी दी कि जब तक समाज में स्त्रियों को सम्मान नहीं दिया जायेगा, समाज का उत्थान असम्भव है। नारी शक्ति, मातृत्व की शक्ति को एक सुसंस्कृत समाज का ढांचा तैयार करने को कहा गया ताकि आने वाले समय में हर घर में एक निरंजन का प्रादुर्भाव हो।

अध्यात्म की बीज तो सबके हृदय में है, किन्तु उस बीज से अच्छा पौधा तभी निकलता है, जब भूमि उर्वरा हो। और यह उर्वरा भूमि हमारा 'बिहार योग विद्यालय' है, जो पिछले पचास वर्षों से अपनी आध्यात्मिक ऊर्जा को खाद के रूप में हमारे आत्मारूपी बीज को प्रदान कर रहा है। इसमें न सिर्फ हमारे देश के बल्कि विदेशों के बीज भी प्रस्फुटित होने की प्राणिक शक्ति ग्रहण करते हैं। हमारे गुरुओं की संकल्प-शक्ति एवं साधना की ऊर्जा से पोषित ये पौधे निरंतर ऊर्ध्वगामी विकास की ओर अग्रसर हैं।

–संन्यासी योगप्रिया, पटना





स्वामी निरंजनानन्द का जन्म छत्तीसगढ़ के राजनाँदगाँव में सन् 1960 में हुआ। जन्म से ही उनकी जीवन-दिशा उनके गुरु, स्वामी सत्यानन्द सरस्वती द्वारा निर्देशित रही। चार वर्ष की अवस्था में वे गुरु-सान्निध्य में रहने बिहार योग विद्यालय आये, जहाँ उनके गुरु ने योग निद्रा के माध्यम से उन्हें योग एवं अध्यात्म का गहन प्रशिक्षण प्रदान किया। सन् 1971 में वे दशनामी संन्यास परम्परा में दीक्षित हुए, तत्पश्चात् 11 वर्षों तक विभिन्न देशों की यात्राएँ कर उन्होंने अनेक कलाओं में दक्षता अर्जित की और विभिन्न संस्कृतियों के सम्पर्क में रहकर उनकी गहरी समझ प्राप्त की तथा यूरोप, ऑस्ट्रेलिया, उत्तर एवं दक्षिण अमरीका में अनेक सत्यानन्द योग केन्द्रों एवं आश्रमों की स्थापना की।

सन् 1983 में गुरु-आज्ञानुसार भारत लौटकर वे बिहार योग विद्यालय, शिवानन्द मठ तथा योग शोध संस्थान की गतिविधियों के संचालन में संलग्न हो गए। सन् 1990 में वे परमहंस-परम्परा में दीक्षित हुए और 1995 में स्वामी सत्यानन्द के उत्तराधिकारी के रूप में उनका अभिषेक किया गया। सन् 1994 में उन्होंने विश्व के प्रथम योग विश्वविद्यालय, बिहार योग भारती की तथा 2000 में योग पब्लिकेशन्स ट्रस्ट की स्थापना की। सन् 1995 में उन्होंने बच्चों के एक बृहत् योग आन्दोलन, बाल योग मित्र मण्डल का शुभारम्भ किया। मुंगेर में विभिन्न गतिविधियों का संचालन करने के अलावा उन्होंने दुनियाभर के साधकों का मार्गदर्शन करने हेतु व्यापक रूप से यात्राएँ कीं। सन् 2009 में उन्हें अपने गुरु से संन्यास जीवन का एक नया अध्याय शुरू करने का आदेश प्राप्त हुआ।

स्वामी निरंजनानन्द योग दर्शन, अभ्यास एवं जीवनशैली की गहन जानकारी और समझ रखते हैं तथा योग, तंत्र एवं उपनिषदों पर अनेक प्रमाणिक पुस्तकों के प्रणेता भी हैं। प्राचीन तथा अर्वाचीन परम्पराओं का सुन्दर सम्मिश्रण करते हुए वे इस समय मुंगेर में अपने गुरु के मिशन को आगे बढ़ाने के कार्य में संलग्न हैं।



'धर्म एक व्यवस्था, एक अनुशासन, एक मान्यता और एक विश्वास है, लेकिन आध्यात्मिकता जीवन की आराधना, जीवन के सौंदर्य की उपासना, जीवन में शांति की खोज और परम तत्त्व की अनुभूति है। जो साधक द्वैत भाव को समाप्त कर अद्वैत की अवस्था को प्राप्त करता है, वह आध्यात्मिक जीवन में पहला कदम रखता है ...'

सन् 2009 से स्वामी निरंजनानन्द सरस्वती के जीवन का एक नया अध्याय प्रारम्भ हुआ है और मुंगेर में योगदृष्टि सत्संग शृंखला के अन्तर्गत योग के विभिन्न पक्षों पर दिये गये प्रबोधक व्याख्यान स्वामीजी की इसी नयी जीवनशैली के अंग हैं।

मार्च 2013 में बैद्यनाथेश्वर शंकरबाग, मुंगेर के प्रांगण में स्वामीजी द्वारा दिये सत्संगों का विषय अध्यात्म था। 'आध्यात्मिक जीवन वास्तव में क्या है?' – इस प्रश्न को अपने सत्संगों का आधार बनाकर स्वामीजी ने अध्यात्म के विभिन्न आयामों का सुन्दर निरूपण किया है। श्री स्वामी शिवानन्द जी और श्री स्वामी सत्यानन्द जी की आध्यात्मिक शिक्षाओं का सार प्रस्तुत करते हुए स्वामीजी ने ऐसी अनेक व्यावहारिक साधनाओं का उल्लेख किया है, जिन्हें अपनाकर हम अध्यात्म मार्ग पर नई प्रेरणा, ऊर्जा और आशा के साथ आगे बढ़ सकते हैं।



ISBN :978-93-81620-43-4